

## सभ्यता का संकट और विकल्प



## मां, मेरा कस्बा और किस्सागोई

- |   |  |
|---|--|
| <input type="checkbox"/> नारी चेतना से निकली रपट  | <input type="checkbox"/> महाराष्ट्र का सिंचाई घोटाला |
| <input type="checkbox"/> सोनी सोढ़ी की यातना गाथा | <input type="checkbox"/> जलता हुआ तिब्बत             |
| <input type="checkbox"/> क्या हम सभ्य हो रहे हैं  | <input type="checkbox"/> नरेगा के नक्सलवादी          |
| <input type="checkbox"/> मुलताई घोषणापत्र         | <input type="checkbox"/> नीतीश राज में भ्रष्टाचार    |

## मैं शर्मिष्ठा हूँ इरोम चानू शर्मिला

जयमाल और जयपाल के बीच  
भूल गया पूरा देश  
मैं शर्मिष्ठा हूँ इरोम शर्मिला।  
'मन' की कुंभकरणी नींद  
और  
बारह बरस  
छोटी-सी दुनिया की  
छोटी-सी दूरी  
ध्यान ही नहीं गया।  
कितना अनूठा है, हमारा लोकतंत्र  
उसका सामंती नक्शा  
हर बार  
ज्यादा नृशंस होकर  
उभरता है।  
रुढ़िवादी  
और जातिगत बाहुबल से उपजा  
भयभीत वोटर का कायर प्रतिनिधि  
निर्धारित करता है  
प्रारूप जीवन मरण का,  
परिणाम तय करती है हवा।  
लंपटता  
यानी लोकप्रियता।  
'अपना आदमी'  
गुणवत्ता, वफादारी,  
तार्किकता और बुद्धिमत्ता से ऊपर।  
दरबार का विदूषक,  
विद्वान मंत्री पर भारी,  
वही तय करता है 'बाजियां'।

इसीलिए 'ये' बरस भारी नहीं पड़े।  
हमारा आचरण खतरे के समय  
और  
शांति के समय में भिन्न होता है  
सरल जटिल है  
जटिल सरल।  
तुमने सुरक्षा नहीं मांगी  
(वह संकीर्ण और टुच्चा बना देती है।)  
तुमने 'तक्षक' को मारने नहीं,  
हटाने को कहा।  
पर भारी है उनके लिए नैतिक निर्णय।  
तुम्हारा (मणिपुर की स्त्रियों का)  
निर्वस्त्र होना  
'यत्र नार्यस्तु पूज्यंते' का सिर  
झुका नहीं पाया  
वे केवल 'स्टेच्यू ऑफ लिबर्टी' के  
सामने झुकते हैं।  
विदेशों में यंत्रस्थ हैं विरुदावली  
'महारानी' और 'कुमार' पर दुग्धकल्प  
आजमाया जा रहा है।  
शायद तुम्हें सदी लगे  
शांति व्यवस्था बनाए रखें।  
शायद एक दिन इनोवेट हो  
सत्यमेव जयते  
और कहे मेरा अर्थ है —  
सत्य कभी-कभी जीतता है।

—रजनीकांत शर्मा

[इरोम चानू शर्मिला मणिपुर में सशस्त्र बल (विशेष शक्तियां) कानून 1958 के अंतर्गत सुरक्षा बलों को दिए गए अधिकार के विरुद्ध गत बारह वर्षों से भूख हड़ताल पर हैं। इस कानून के कारण फौजियों द्वारा बलात्कार, मारपीट, हत्या, घर की तलाशी, मनमानी गिरफ्तारी जैसे अत्याचार करने पर भी उन पर कोई केस नहीं किया जा सकता। बारह वर्ष पूर्व ग्यारह निरपराध लोगों की हत्या के बाद उन्होंने यह आमरण अनशन प्रारंभ किया था। आत्महत्या के प्रयास की धारा लगाकर उनको बंदी बनाकर रखा गया है। ज्ञातव्य है कि सीआरपीएफ द्वारा एक लड़की की बलात्कार के बाद हत्या कर देने के विरोध में वहां की प्रौढ़ महिलाओं ने इंडाल में उसके मुख्यालय पर नग्न होकर प्रदर्शन किया था।]

# सामयिक वार्ता

मार्च 2013, वर्ष 36, अंक 5-6

**संस्थापक संपादक:** किशन पटनायक

**संपादक:** सुनील

**उपसंपादक:** बाबा मायाराम

**संपादन सहयोग:**

सत्येन्द्र रंजन, अरविंद मोहन, हरिमोहन, राजेन्द्र राजन,  
प्रियदर्शन, अरुण त्रिपाठी, मेधा, चंदन श्रीवास्तव

**परामर्श मंडल:**

सच्चिदानंद सिन्हा, अशोक सेकसरिया,  
योगेन्द्र यादव, कश्मीर उप्पल

**आवरण :** इरफान (साभार, अंतिम जन)

**कार्यालय:** सामयिक वार्ता,

द्वारा चंद्रशेखर मिश्रा, दूसरी लाइन, इटारसी,  
जिला होशंगाबाद, म.प्र. पिन 461111

फोन: 09425040452, 9424437330 (संपादन)

09993737039 (प्रबंध)

ई-मेल varta3@gmail.com

**सदस्यता शुल्क**

वार्षिक शुल्क: 100 रूपए

संस्थागत वार्षिक शुल्क: 200 रूपए

पांच वर्षीय शुल्क: 600 रूपए

आजीवन शुल्क: 2000 रूपए

सदस्यता शुल्क चेक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर द्वारा  
'सामयिक वार्ता ट्रस्ट' के नाम से दफ्तर के पते  
पर भेजें।

सदस्यता/सहायता/एजेंसी की राशि कोर बैंकिंग  
के जरिए पंजाब नेशनल बैंक में कहीं भी उपरोक्त  
नाम से खाता क्रमांक **3979000100117987** में  
जमा कर सकते हैं। जमा करने की सूचना और  
अपना पता हमें पत्र से अवश्य भेजें। आप पहले  
से वार्ता के ग्राहक हैं लेकिन वार्ता आप तक  
नहीं पहुंची हो तो एक पोस्टकार्ड डालकर हमें  
भूल-सुधार का मौका दें।

इस अंक में

10

सभ्यता का संकट और विकल्प

सच्चिदानंद सिन्हा

19

नारी चेतना से निकली रपट

सत्येन्द्र रंजन

23

एक शिक्षिका की यातना गाथा

रपट

26

महाराष्ट्र का सिंचाई घोटाला

श्रीपाद धर्माधिकारी

28

जलता हुआ तिब्बत

राधा भट्ट

30

गरीबों की जानलेवा बीमारी टीबी

रामप्रताप गुप्ता

33

क्या हम सभ्य हो रहे हैं

सतीश पेडणेकर

36

मां, मेरा कस्बा और किस्सागोई

मो यान

41

यादें

(ठाकुरदास बंग, विनोदानंद प्रसाद सिंह)

46

नरेगा के नक्सलवादी

राकेश दीवान

51

गतिविधियां

56

मुलताई घोषणापत्र

59

राष्ट्रीय आंदोलन पर संवाद

# इरोम शर्मिला से अफजल गुरू तक

किसी भी हत्या पर मिठाई बांटना और आतिशबाजी छोड़कर खुशियां मनाना एक वीभत्सता और अमानवीयता है। अफजल गुरू की फांसी के बाद ऐसी ही तस्वीरें देखने को मिली। भारतीय संसद पर हमले की साजिश के आरोप में अफजल गुरू को मौत की सजा देना एक न्यायिक कृत्य था। इस फैसले और मुकदमे की प्रक्रिया पर कई सवाल उठे, लेकिन सर्वोच्च न्यायालय तक अपील और परीक्षण के बाद यह फैसला हुआ, इसलिए उसे खामियों के बावजूद एक न्यायिक कृत्य माना जा सकता है। लेकिन 2005 में फांसी की सजा की सर्वोच्च न्यायालय की पुष्टि के लंबे समय के बाद एकाएक 9 फरवरी 2013 को उसे फांसी पर चढ़ाने का फैसला एक राजनैतिक कृत्य है। इसके पीछे 2014 के लोकसभा चुनाव की आहट है, केंद्र में सत्तासीन कांग्रेस की घबराहट है जो उसके लगातार जनविरोधी फैसलों व कारनामों से उपजते जन असंतोष के कारण बढ़ रही है, हिंदू कट्टरपंथियों का बढ़ता प्रभाव और नरेन्द्र मोदी की तीसरी जीत है।

तीन महीनों के अंदर गुपचुप तरीके से कसाव और अफजल को फांसी देने से पता चलता है कि कांग्रेस नेतृत्व ने भी कुछ हद तक हिंदू कट्टरपंथ को तुष्ट करने का फैसला कर लिया है। ऐसा ही कांग्रेस नेतृत्व (इंदिरा गांधी और राजीव गांधी) ने पिछली सदी के अस्सी के दशक में किया था, जब स्वर्णमंदिर पर चढ़ाई की थी, पूरे देश में सिखों को निशाना बनाया था और अयोध्या में ताले खुलवाकर पूजा शुरू करवाई थी। बदले में एक हद तक संघ का चुनावी समर्थन उन्हें मिला था। वे फिर उसे दुहराना चाहते हैं, इस बार शायद राहुल गांधी को सत्ता में लाने के लिए। तुष्टीकरण बहुसंख्यक कट्टरपंथ का हो या अल्पसंख्यक कट्टरपंथ का, दोनों खतरनाक है। लेकिन बहुसंख्यक कट्टरपंथ का तुष्टीकरण ज्यादा खतरनाक है। अस्सी के दशक में सरकार के इस खेल का लंबा खामियाजा देश को भुगताना पड़ा, जिसके जख्म आज भी हरे हैं।

1984 की सिख विरोधी मारकाट, 2002 का गुजरात और 2008 की उड़ीसा के कंधमाल की ईसाई विरोधी हिंसा का सिलसिला उसी के बाद शुरू हुआ। याने भारत के सारे अल्पसंख्यक समुदायों को एक-एक करके 'सबक' सिखाया गया। भारतीय राजनीति में

भाजपा-शिवसेना तो घोषित और ज्ञात सांप्रदायिक ताकतें हैं, लेकिन कांग्रेस का भी एक बार फिर हिंदू सांप्रदायिकता की ओर झुकना देश के लिए खतरनाक संकेत है।

हिंदू सांप्रदायिकता का कार्ड खेलने के इस चक्कर में केंद्र सरकार ने न्यूनतम मानवीयताएं बरतने की जरूरत भी नहीं समझी, जैसे अफजल के परिवार को फांसी से पहले सूचित करना, परिवार को मिलने का मौका देना, उसकी लाश परिवार को सौंपना और अपने धर्म के मुताबिक अंतिम क्रियाएं करने का मौका देना आदि। 22 साल पहले इंदिरा गांधी की हत्या के आरोप में केहर सिंह और सतवंत सिंह को फांसी दी गई थी, तब उसने परिजनों को मिलने का मौका दिया गया था और फांसी को गोपनीय रखने की जरूरत भी नहीं समझी गई थी। इस बार सरकार को अंदेशा था कि अफजल की फांसी की खबर पाकर कश्मीर में बवाल हो जाएगा। फांसी के साथ ही पूरे कश्मीर में कर्फ्यू लगा दिया गया। अखबार, टीवी चैनल, इंटरनेट, मोबाईल सब बंद कर दिए गए। एक सप्ताह बाद सामान्य स्थिति हुई। इसका मतलब यही है कि इस बार सरकार कम आश्वस्त और ज्यादा डरी हुई है। क्या 22 साल में यही प्रगति हुई है?

कश्मीर में इसके बावजूद विरोध प्रदर्शन हुए, लाठियां-गोलियां चली, लोग मारे गए। क्यों? एक ही घटना की बाकी देश में अलग प्रतिक्रिया हुई और कश्मीर में अलग हुई। क्या यह देश के एक अघोषित बंटवारे को पुष्ट नहीं करता है, जो पिछले कुछ समय से होता जा रहा है? क्या यह भारतीय न्याय व्यवस्था की हार नहीं है कि देश के एक हिस्से में उसके फैसले को लोग अन्याय के रूप में देखते हैं? क्या यह भारतीय लोकतंत्र और भारत राष्ट्र की हार नहीं है? **1947 के विभाजन के बाद कश्मीर भारत के लिए एक तमगे की तरह था, जिससे भारत द्विराष्ट्रवाद के सिद्धांत को गलत ठहरा सकता था और कह सकता था कि एक ही राष्ट्र के अंदर कई धर्मों के लोग हिलमिलकर रह सकते हैं। आज वह तमगा हाथ से चला गया प्रतीत होता है। इसमें कहां गलती हुई, किसकी गलती रही, इसकी गंभीर समीक्षा होनी चाहिए।**

हिंदू कट्टरपंथी तत्त्वों और कांग्रेस की भाषा एक हो चली है। दोनों कह रहे हैं कि अफजल को फांसी

देना आतंकवादियों और उग्रवादियों को कड़ा संदेश देने की लिए जरूरी था। लेकिन क्या सचमुच भरोसे के साथ कहा जा सकता है कि इससे आतंकवाद कमजोर होगा? उमर अब्दुल्ला, मेहबूबा मुफ्ती आदि ने कहा कि इससे कश्मीर की जनता में अलगाव बढ़ेगा और यह ठीक नहीं हुआ। इसी वक्त भारत के वित्तमंत्री पी. चिदंबरम जो पहले गृहमंत्री भी रहे हैं के एक बयान ने सबको चौंका दिया है। अफजल को फांसी के तीन दिन पहले चिदंबरम ने दिल्ली में एक व्याख्यान में कहा कि भारत सरकार तो विवादास्पद सशस्त्र बल (विशेष शक्तियां) कानून में संशोधन करना चाहती है, लेकिन भारतीय फौज इसके लिए तैयार नहीं है, इसलिए सरकार लाचार है। चिदंबरम का यह बयान या तो पाखंड है या चिंताजनक है। क्या इसका मतलब है कि भारतीय फौज इतनी ताकतवर हो गई है कि सरकार और जनता से ऊपर हो गई है? उसके आगे सरकार की नहीं चलती है? यदि यह सच है तो क्या यह पाकिस्तान, बांग्लादेश और कई अन्य देशों जैसी स्थिति नहीं बन रही है जहां फौज अपने हिसाब से सरकारों को चलाती है और चाहे जब तख्ता पलट देती है?

यह कानून 1958 में नागा विद्रोहियों को दबाने में फौज के इस्तेमाल के लिए बनाया गया था। तब से इसका इस्तेमाल बढ़ता गया और लगातार होता रहा है। उत्तर-पूर्व के बड़े हिस्से के साथ कश्मीर में भी काफी समय से यह लागू है। लेकिन अनुभव यह है कि इस कानून से फौजियों को स्थानीय लोगों पर चाहे जैसे अत्याचार की छूट मिल जाती है जिनमें मनमानी तलाशी, गिरफ्तारी, पिटाई से लेकर बलात्कार और हत्याएं भी शामिल हैं। इस कानून में प्राप्त सुरक्षा के कारण उनके खिलाफ कोई मुकदमा भी दर्ज नहीं किया जा सकता। इसके कारण इन सारे इलाकों में स्थानीय जनता पर फौजियों के अत्याचार होते रहे तथा जनता का गुस्सा भड़कता गया। आतंकवाद और उग्रवाद की समस्या हल होने के बजाय गंभीर होती गई। पिछले 55 बरस का अनुभव इस कानून के दुष्परिणामों और केंद्र सरकार की नीति की असफलता की खुली घोषणा है।

दरअसल खतरे की घंटी तो तभी बज जानी चाहिए, जब भारत सरकार को देश के अंदर फौज का इस्तेमाल करने की जरूरत पड़ी। फौज का गठन और प्रशिक्षण हमेशा दुश्मनों से निपटने के लिए होता है। देश के अंदर जनता के एक हिस्से के खिलाफ उसका इस्तेमाल होता है, तो वह उन लोगों के साथ भी दुश्मनों की तरह बरताव करती है। इसलिए देश के

अंदर फौज या अर्ध-फौजी बलों का इस्तेमाल करने की जरूरत पड़नी ही नहीं चाहिए। यह एक विकृति है। लोगों के दिलों को जीतकर ही अपने साथ रखा जा सकता है, फौजी दमन से नहीं। खुद हमारे पड़ोस में 1971 में बांग्लादेश का गठन इसका अच्छा उदाहरण था, जिसमें हमने भी सहयोग किया था। **आज भारत में जिस 'आंतरिक सुरक्षा' की चर्चा बार-बार होती है और जिसके लिए भारी बजट भी आबंटित होता है, वह शब्द ही अपने-आप में विरोधाभास है और भारतीय राष्ट्र की हार है। सुरक्षा तो बाहरी हमले से करना था, देश के अंदर सुरक्षा की बात कहां से आई?**

बलात्कार के बारे में गठित जस्टिस वर्मा समिति ने भी सशस्त्र बल (विशेष शक्तियां) कानून को बदलने की जरूरत बताई है। उमर अब्दुल्ला काफी समय से कश्मीर से इस कानून को हटाने की मांग कर रहे हैं। हाल ही में सर्वोच्च न्यायालय ने मणिपुर में कुछ फर्जी मुठभेड़ों की जांच के आदेश दिया है, लेकिन याचिकाकर्ताओं का कहना है कि मणिपुर में 1500 लोग गायब हो चुके हैं। ज्यादा विरोध होने लगा तो भारत सरकार ने इस कानून की समीक्षा के लिए न्यायमूर्ति जीवन रेड्डी की अध्यक्षता में एक समिति बनाई। लेकिन इस समिति की रपट आठ सालों से अलमारी में बंद धूल खा रही है और इसे संसद के सामने तक पेश नहीं किया गया।

मणिपुर की एक महिला इरोम शर्मिला 4 नवंबर 2000 से, यानी 12 बरस से अधिक समय से, इस कानून को हटाने की मांग को लेकर अनशन पर है और जेल में है। यह अपने आप में एक विश्व रिकॉर्ड है। फिर भी सरकार के कानों पर जूं नहीं रेंगती। गांधी के देश में गांधी के हथियार का असर नहीं हो रहा है। **यदि अहिंसक और लोकतांत्रिक तरीके और सत्याग्रह के हथियार कारगर नहीं होंगे और जनता पर अमानुषिक अत्याचार होते रहेंगे, तो आतंकवाद, उग्रवाद, माओवाद के पनपने तथा फलने-फूलने की जमीन तैयार होगी ही। इरोम शर्मिला की सुनी नहीं जाएगी, तो कई नौजवान अफजल की राह पर मजबूर होकर चल पड़ेंगे।** अफजल की फांसी से ज्यादा भारत की केंद्रीकृत सत्ता के अहंकार, कट्टरपंथ और संकीर्ण राष्ट्रवाद को खतम करने की जरूरत है, तभी भारत राष्ट्र ज्यादा टिकाऊ, समृद्ध तथा बलशाली हो सकेगा।

—सुनील

## क्रेडिट रेटिंग का खतरनाक खेल

**जिनकी साख लुट चुकी है, वे भारत की नीति-नियंता बन बैठी हैं**

कहने को तो भारत एक लोकतंत्र है। यह माना जाता है कि लोकतंत्र में लोगों की इच्छा सर्वोपरि होती है और सरकारी नीतियां व कामकाज अंततः उसी के अनुरूप होंगे। लेकिन इन दिनों भारत सरकार की आर्थिक नीतियों का निर्धारण अमरीका में बैठी कुछ निजी एजेंसियां कर रही हैं। इन्हें क्रेडिट रेटिंग (साख निर्धारण) एजेंसियां कहा जाता है। ये किसी देश, कंपनी या खास पूंजी निवेश योजना की रेटिंग करती हैं। उन्हें अच्छा या खराब की विभिन्न श्रेणियां प्रदान करती हैं। इनमें प्रमुख हैं— स्टैंडर्ड एंड पुअर, फीच, मूडीज आदि।

भारत सरकार उनके इशारे पर चलती है, इसका एक खुला बयान विगत 22 जनवरी को भारतीय वित्तमंत्री ने परदेश जाकर किया। हांगकांग में विदेशी पूंजीपतियों के बीच उन्होंने कहा कि हमने 'गार' के भूत को दफना दिया है, डीजल कीमतों को नियंत्रणमुक्त करना शुरू कर दिया है और खुदरा व्यापार में विदेशी पूंजी को इजाजत दे दी है, इसलिए अब हमारी रेटिंग गिरने का 'डर' नहीं है। अब आप भारत में बेफिक्र होकर पूंजी निवेश कर सकते हैं।

भारत सरकार को रेटिंग की चिंता है, क्योंकि वह हर हालत में विदेशी पूंजी को बुलाना चाहती है और उसी से भारतीय अर्थव्यवस्था का उद्धार होगा ऐसा मानती है। इन एजेंसियों ने साख की रेटिंग तय करने के जो मॉडल बनाए हैं, उनमें ब्याज दरें, शेयर बाजार, भुगतान संतुलन के चालू खाते के घाटे, सरकारी खर्च और विदेशी कंपनियों को रियायतें आदि को देखा जाता है। याने जिन चीजों से विदेशी पूंजी लगाने वालों के मुनाफों की अच्छी संभावनाएं बनेगी। जैसे सरकारी खर्च कम करने पर रेटिंग बढ़ती है, क्योंकि सरकार द्वारा हाथ खींचने से कंपनियों को मुनाफे के नए मौके मिलते हैं। लेकिन विदेशी कंपनियों के हित और जनता के व देश के हित एक होंगे, यह तो जरूरी नहीं है। बल्कि अक्सर ये हित विरोधी होते हैं। इस बात को इस खेल में पूरी तरह भुला दिया गया है।

तात्कालिक मुनाफों की छीनाझपटी का यह

खेल कितना टिकाऊ होगा, और क्या पूरी अर्थव्यवस्था को अस्थिर नहीं कर देगा, यह भी एक सवाल है। और क्या ये निजी एजेंसियां इस खेल को भी ईमानदारी से खेलती रहेंगी? ये सवाल बीच-बीच में उठते रहे हैं। लेकिन एक ताजा घटना ने इन सवालों को फिर बड़े रूप में सामने ला दिया है। यह घटना खुद इन कंपनियों के देश और वित्तीय पूंजीवाद के गढ़ अमरीका की है।

विगत 4 फरवरी 2013 को संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार ने स्टैंडर्ड एंड पुअर कंपनी के खिलाफ 500 करोड़ डालर (करीब 27500 करोड़ रुपए) के विशाल हरजाने का मुकदमा दाखिल किया है। इसके आरोप पत्र में 2008 में वहां जो आर्थिक संकट आया, उसके लिए इस कंपनी को कसूरवार माना है। यह संकट गृहऋणों और उनको इकट्ठा करके बनाई गई प्रतिभूतियों के डूबने और उनका बुलबुला फूटने से शुरू हुआ था। इन प्रतिभूतियों को स्टैंडर्ड एंड पुअर ने उत्तम रेटिंग दे रखी थी। अमरीका सरकार के वकीलों ने इस कंपनी की आंतरिक ईमेलों की छानबीन करके पाया है कि कंपनी के अधिकारियों और विशेषज्ञों को इन प्रतिभूतियों के डूबने या धराशायी होने के खतरों का अंदाज 2004 से ही हो रहा था, 2007 में काफी हद तक हो गया था, लेकिन अपना धंधा चालू रखने के लिए उन्होंने जानबूझ पर इनकी रेटिंग अच्छी बनाए रखी। इस तरह उन्होंने निवेशकों और देश के साथ धोखाधड़ी की। यह मुकदमा इन दिनों अंतरराष्ट्रीय आर्थिक और वित्तीय जगत में चर्चाओं का केंद्र बना हुआ है।

इन रेटिंग एजेंसियों की विश्वसनीयता पर इसके पहले भी कई बार सवाल उठे हैं। 1994 में मेक्सिको और 1997 में दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों के संकट में भी इन कंपनियों की भूमिका सामने आई थी। खास तौर पर थाईलैंड को तो इन्होंने तगड़ा झटका दिया था, जिससे वह आज तक नहीं उबर पाया है। जब एनरॉन कंपनी का ऑडिट घोटाला सामने आया और वह कंपनी ही बैट गई, तब तीनों एजेंसियों ने उसे एएए की रेटिंग दे रखी

थी। 2000 के डॉटकॉम बुलबुले के संकट में भी इनका हाथ था। इस तरह, खुद जिनकी साख और विश्वसनीयता बुरी तरह लुट चुकी है, वे आज

भारत की साख निर्धारित कर रही हैं और भारत की नीति-नियंता बन बैठी हैं। वैश्वीकरण के इस जमाने की यह एक और बड़ी विडंबना है।

## स्कूल है, पढ़ाई नहीं

### बच्चों को स्कूल में नाम लिखाने का अधिकार है, पढ़ने-सीखने का नहीं

भारत में साधारण बच्चों की शिक्षा की हालत बहुत बिगड़ती जा रही है और उसमें कई विकृतियां आ रही हैं, यह एक बार फिर जाहिर हुआ है।

‘प्रथम’ नामक एक संस्था हर साल भारत के ग्रामीण स्कूलों का सर्वेक्षण करती है। उसकी 2012 की रपट पिछले दिनों जारी हुई है। इससे पता चलता है कि स्कूलों में पढ़ाई का स्तर बहुत खराब है और खराब होता जा रहा है। पांचवी कक्षा के 53.2 फीसदी बच्चे दूसरी कक्षा का पाठ भी नहीं पढ़ सकते हैं। दो साल पहले इन बच्चों का प्रतिशत 46.3 था। यानी हालात सुधरने के बजाए बिगड़ रहे हैं। इसी तरह दो साल पहले पांचवी कक्षा के 29.1 फीसदी बच्चे संख्याएं घटाने का वह साधारण सवाल नहीं कर पा रहे थे जो उन्हें दूसरी कक्षा में कर लेना चाहिए। अब यह प्रतिशत काफी बढ़कर 46.5 हो गया है। दुखद यह है कि करीब 20 फीसदी बच्चे तो दहाई की संख्या को भी नहीं पहचान पा रहे हैं।

पिछले कुछ सालों में सरकार ‘सर्व शिक्षा अभियान’ चलाकर, ‘स्कूल चलो’ को नारा देते हुए, स्कूल में बच्चों का नाम लिखाने पर बहुत जोर देती रही है। नतीजतन स्कूलों में बच्चों का नामांकन 96 फीसदी पर पहुंच गया है। लेकिन सवाल यह है कि इन बच्चों को स्कूल भेजकर हम क्या कर रहे हैं? क्या सिखा रहे हैं? यदि लिखने-पढ़ने और हिसाब करने की न्यूनतम क्षमता भी उनको नहीं दे पा रहे हैं तो शिक्षा की बाकी बातों (विविध ज्ञान-विज्ञान की समझ, विश्लेषण क्षमताएं, इतिहास और संस्कृति का ज्ञान, कलाओं की दक्षता, मूल्यों की शिक्षा, देशप्रेम आदि) के बारे में तो सोचना ही बेकार है। देश के इन बच्चों का स्कूल का समय पूरी तरह बरबाद हो रहा है। देश के स्तर पर यह बड़ी बरबादी है।

ये हालात तब हैं, जब तीन साल पहले भारत की संसद देश में 6-14 साल की उम्र के हर बच्चे को मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा देने का कानून बना

चुकी है और उस कानून के प्रावधानों को पूरी तरह लागू करने की मियाद भी 31 मार्च 2013 तक खत्म होने जा रही है। उम्मीद तो थी कि कानून लागू होने के बाद हालत सुधरती, लेकिन वह उलटे बिगड़ रही है। साफ है कि यह कानून अधिकार के नाम पर देश के बच्चों को केवल स्कूल में नाम लिखाने का अधिकार देता है, पढ़ने और सीखने का नहीं। स्कूली शिक्षा की यह हालत इस कानून की मंशा और डिजाइन पर गहरे सवाल खड़ा करती है। पिछले दो दशकों से विदेशी मदद से चल रहे सर्व शिक्षा अभियान, जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डीपीइपी) आदि पर भी बड़े प्रश्नचिन्ह इससे लगते हैं।

रपट को जारी करते हुए ‘प्रथम’ के प्रवक्ताओं ने शिक्षा अधिकार कानून के तहत वार्षिक परीक्षाएं खत्म करके सतत मूल्यांकन प्रणाली लाने को शिक्षा के स्तर में गिरावट के लिए जिम्मेदार माना। बहुत लोग ऐसा मानते हैं। नवीं कक्षा से पहले परीक्षा को लेकर बच्चों को फेल न करने का यह विचार अपने-आप में गलत नहीं था। अभी तक हमारी शिक्षा व्यवस्था थोक में बच्चों को फेल करके स्कूल से बाहर कर देती थी। विचार यह है कि इसमें बच्चों की असफलता नहीं है, हमारी स्कूल व्यवस्था की असफलता है। लेकिन इस विचार को लागू करने के लिए जरूरी था कि स्कूल व्यवस्था को दुरुस्त किया जाए। स्कूलों में काफी तादाद में प्रशिक्षित एवं काबिल शिक्षक हों जो एक-एक बच्चे पर पर्याप्त ध्यान एवं समय दे सकें। इसके लिए यह भी जरूरी था कि स्कूल में पढ़ाई के तरीकों को बदलकर बहुआयामी, रचनात्मक और आनंददायक बनाया जाए। लेकिन हमने वह व्यवस्था तो नहीं की, बस परीक्षाओं को खत्म कर दिया। नतीजा यह हुआ कि निरंतर उपेक्षित होती और गरीब बच्चों तक सीमित होती सरकारी स्कूल व्यवस्था में लापरवाही तथा गैरजिम्मेदारी और बढ़ गई। कैसे एक अच्छा विचार आधे-अधूरे ढंग से, सतही तौर पर या

बाकी व्यवस्था को बदले बगैर नहीं लागू किया जा सकता है और करने पर उसके उलटे नतीजे निकल सकते हैं, इसका यह अच्छा उदाहरण है।

प्रथम का सर्वेक्षण शिक्षा के बढ़ते निजीकरण को भी रेखांकित करता है। 2006 में भारत के गांवों में 6-14 बरस के 18.7 फीसदी बच्चे निजी स्कूलों में पढ़ रहे थे। अब उनकी तादाद 28.3 फीसदी हो गई है। यही सिलसिला चलता रहा तो 2018 तक यह संख्या 50 फीसदी तक पहुंच जाएगी। लेकिन गांवों के ज्यादातर निजी स्कूल भी शिक्षा की घटिया दुकानें हैं। सर्वेक्षणकर्ता यह भी बता रहे हैं कि जिन बच्चों का शिक्षा स्तर बेहतर है, उनमें निजी स्कूलों की कोई खास भूमिका नहीं है। असल में उनके मां-बाप की आर्थिक हालत बेहतर है और उन्हें अतिरिक्त ट्यूशन दी जा रही है। इस तरह शहरों में तो ट्यूशन की बीमारी पहले ही व्यापक थी, अब गांवों में भी 25 फीसदी बच्चे स्कूल के बाहर निजी ट्यूशन पर जा रहे हैं। ट्यूशन और कोचिंग की बढ़ती प्रवृत्ति भारतीय शिक्षा जगत की एक और विकृति है। यह अभिभावकों पर खर्च का बोझ और बच्चों पर रट्टामार पढ़ाई का बोझ दोनों बढ़ाती है। जिस बस्ते के बोझ की चर्चा शिक्षाविद करते हैं, उसमें अब ट्यूशन-कोचिंग का बोझ भी जोड़ लेना चाहिए।

बहरहाल, सर्वेक्षण से यह भी जाहिर होता है कि आज भी देश के गांवों के 70 फीसदी से ज्यादा बच्चे सरकारी स्कूलों में जा रहे हैं। देश के पिछड़े व गरीब इलाकों में यह प्रतिशत और ज्यादा है। अगले दशकों में भी यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि निजी स्कूलों में देश के सारे (या बहुतांश भी) बच्चों को शिक्षा मिल सकेगी। इस गरीब देश में यह कभी नहीं हो सकेगा। इसलिए शिक्षा का निजीकरण कोई समाधान नहीं हो सकता है।

सरकारी शिक्षा व्यवस्था को सरकार ने जानबूझकर बिगाड़ा है। इसका एक उदाहरण शिक्षक

है। शिक्षक शिक्षा व्यवस्था की रीढ़ है। लेकिन पिछले काफी समय से करीब-करीब देश की सारी राज्य सरकारों ने स्थायी, प्रशिक्षित और पर्याप्त वेतन वाले शिक्षकों की नई नियुक्तियां बंद कर दी हैं। बड़ी तादाद में अलग-अलग नामों से पैरा-शिक्षकों की नियुक्तियां कर दी गई हैं और ज्यादातर स्कूल अब वे ही चला रहे हैं। लेकिन इनके वेतन बहुत कम है, नौकरी अस्थायी या ठेके पर है और उनकी काबिलियत या प्रशिक्षण पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। इस 'कामचलाऊ' व्यवस्था में शिक्षा का काम बिलकुल ठप हो गया है। रही-सही कसर डीएड-बीएड के निजी कॉलेजों ने पूरी कर दी है, जहां पैसा देकर डिग्री मिल जाती है। पिछले दिनों केंद्रीय मानव संसाधन मंत्री ने संसद को बताया कि देश के 8.7 लाख शिक्षक बिलकुल अप्रशिक्षित हैं।

सरकारी हो या निजी, दोनों तरह के स्कूलों में शिक्षक अब कम वेतन पर काम करने वाले ठेका मजदूर बन गए हैं। रोजगार की सुरक्षा, पेंशन, भविष्यनिधि आदि का कोई ठिकाना नहीं है। **इस ठेका मजदूरी से देश के नौनिहालों के भविष्य-निर्माण की उम्मीद कैसे की जाए ?**

सबको अच्छी शिक्षा देश की प्रगति, मजबूती, विकास और लोकतंत्र की सफलता के लिए एक अनिवार्य शर्त है। परमाणु बम, मिसाइलों, परमाणु बिजलीघरों, राष्ट्रमंडल खेल आयोजन और मंगल ग्रह पर यान भेजने से ज्यादा जरूरी है देश के बच्चों की सम्यक शिक्षा। यह तभी हो सकेगा जब सरकारें पूरी जिम्मेदारी लें, शिक्षा का बाजारीकरण व निजीकरण बंद हो, दोहरी व्यवस्था खतम करके बिना भेदभाव के साझा-समान स्कूल प्रणाली कायम हो और शिक्षा पद्धति को आमूल बदला जाए। मौजूदा शासक वर्ग यह काम नहीं करेगा तो इसके लिए बड़ा आंदोलन खड़ा करना होगा। इसके बगैर भारत का कोई भविष्य नहीं है।

## भूत 'गार' का या विदेशी पूंजी का

### विदेशी कंपनियों को कर-चोरी की छूट देना भारत के इतिहास का शर्मनाक अध्याय है

भारत के वित्तमंत्री ने 22 से 27 जनवरी तक हांककांग, सिंगापुर, लंदन और फ्रैंकफुर्ट की यात्रा की और विदेशी कंपनियों व पूंजीपतियों को भारत में पूंजी

लगाने का अनुरोध किया। हांककांग से ही उन्होंने कहना शुरू किया कि हमने 'गार' के भूत को दफना दिया है। पूंजी निवेशकों को डरने की जरूरत नहीं है।



यह 'गार' का भूत क्या है ? भारत सरकार की आमदनी और घाटे से चिंतित पिछले वित्तमंत्री प्रणब मुखर्जी ने पिछले साल के बजट में 'गार' का प्रावधान किया था। यह अंगरेजी के 'जनरल एंटी-अवॉयडेंस रूल्स' का संक्षेप है जिसका मतलब है कर-वंचन रोकने के सामान्य नियम। आय कर कानून के तहत बनाए जा रहे इन नियमों का मकसद देशी-विदेशी कंपनियों द्वारा करों की चोरी या कर से बचने की कोशिशों पर लगाम लगाना था। यह भी प्रावधान किया जा रहा था कि यदि कोई कंपनी कोई भी कर नहीं दे रही है तो उस पर एक न्यूनतम कर लगेगा। इस बीच नीदरलैंड की वोडाफोन कंपनी ने भारत में टेलीफोन व्यवसाय के अधिग्रहण का देश के बाहर सौदा करके टैक्स से बचने की कोशिश की थी। उसको रोकने के लिए प्रणब मुखर्जी ने ऐसे सौदों को भी कर-जाल के दायरे में लाने और उसे पिछली अवधि से लागू करने की घोषणा की थी।

लेकिन प्रणब मुखर्जी की इन मंशाओं के जाहिर होते ही विदेशी कंपनियों में खलबली मच गई। उन्होंने हल्ला मचाना शुरू कर दिया और भारत से अपनी पूंजी वापस ले जाने की धमकियां देनी शुरू कर दी। मनमोहन सिंह दुविधा में फंस गए। इस बीच भारत के राष्ट्रपति के चुनाव का एक अच्छा मौका मनमोहन सिंह के हाथ में आया। प्रणब मुखर्जी को राष्ट्रपति बनाकर राह का रोड़ा हटाया गया। वित्तमंत्री का प्रभार लेते ही मनमोहन सिंह ने आश्वासन दिया कि 'गार' की समीक्षा की जाएगी। फिर मंत्रालय में चिदंबरम को लाया गया जिनका कंपनी-प्रेम जगजाहिर है। रंगराजन, कौशिक बसु और रघुराम राजन जैसे आर्थिक सलाहकार भी एक स्वर में अनुदानों को कम करने के साथ-साथ निवेशकों की आशंकाएं दूर करने का राग अलापने लगे। ऐसे ही एक अर्थशास्त्री पार्थसारथी शोम की अध्यक्षता में एक समिति बनाई गई। उसने फटाफट अपनी रपट पेश कर दी। 14 जनवरी को सरकार ने घोषणा कर दी कि गार नियमों को तीन साल के लिए स्थगित किया जाता है और 1 अप्रैल 2016 से उन्हें लागू किया जाएगा। इस बीच वित्तमंत्री यह भी घोषणा कर चुके थे कि किसी भी कंपनी को पिछली तारीख से कर के दायरे में नहीं लाया जाएगा। इससे वोडाफोन कंपनी को एक खरब रूपए से ज्यादा का फायदा हो गया।

गार स्थगन की घोषणा के साथ ही विदेशी

पूंजीपतियों में खुशी की लहर दौड़ गई और दो दिन में ही सेंसेक्स 20,000 के ऊपर पहुंच गया, जो कि दो साल का सबसे ऊंचा स्तर था। इसी समय भारत सरकार ने डीजल की कीमतें क्रमिक रूप से बढ़ाने, बड़े उपभोक्ताओं को बाजार दर पर डीजल देने, धीरे-धीरे डीजल की कीमतों को पूरी तरह नियंत्रणमुक्त करने और डीजल पर अनुदान समाप्त करने का फैसला कर दिया। इससे भारतीय जनता पर चाहे बोझ पड़ा हो और महंगाई का नया दौर शुरू होने की संभावना बनी हो, लेकिन रिलायंस तथा एस्सार कंपनियों को काफी फायदा पहुंचने वाला है। इन कंपनियों के पास तेल शोधन की क्षमता है, लेकिन डीजल-पेट्रोल सरस्ता होने के कारण वे अपने पेट्रोल पंप नहीं चला पा रही थी। अब बाजार दरें लागू होने पर उनका धंधा चल निकलेगा। खुदरा व्यापार के दरवाजे भी प्रबल विरोध के बावजूद वालमार्ट जैसी विशाल कंपनियों के लिए खोले गए हैं। पिछले कुछ सालों में दरअसल सरकार के ज्यादातर फैसले कंपनियों को खुश करने और फायदा पहुंचाने के लिए ही किए गए हैं।

यह एक विचित्र बात है कि जो सरकार बजट घाटे का रोना रोती रहती है और खर्च कम करने के लिए आम जनता को मिलने वाले अनुदानों व मदद को कम करने पर तुली हुई है, वही सरकार दुनिया की बड़ी-बड़ी कंपनियों से करों को वसूलने और कर-चोरी रोकने के उपायों को आसानी से वापस ले लेती है। मारीशस मार्ग जैसी कर-चोरी को उसने पूरी तरह इजाजत दे रखी है। कंपनियों को दी जाने वाली कर-रियायतें तथा उनको अनुदान हर बजट में विशाल मात्रा में बढ़ते जा रहे हैं। कारण यही है कि सरकार में बैठे लोग किसी भी कीमत पर विदेशी पूंजी को रिझाने, लुभाने, खुश करने और बुलाने के लिए बैचन हैं। इसके लिए वे देशहित, जनहित, सरकारहित, नैतिकता, संप्रभुता सबको तिलांजलि देने के लिए तैयार हैं। विदेशी पूंजी की यह गुलामी अभूतपूर्व है। आधुनिक भारत के इतिहास का यह एक शर्मनाक अध्याय है।

दरअसल भूत 'गार' का नहीं है, विदेशी पूंजी का महाभूत है जो भारत सरकार पर पूरी तरह सवार हो गया है। सरकार होश खो बैठी है और यह भूत उसको चाहे जैसा नचा रहा है। लातों के भूत बातों से नहीं मानते। इस भूत को उतारने के लिए एक बड़ा जन-विद्रोह करने का वक्त आ गया है।

# सभ्यता का संकट और विकल्प

सच्चिदानंद सिन्हा

*पूँजीवादी तकनीक की मदद से दुनिया को स्वर्ग बनाने की जो कल्पना मार्क्सवाद में ने की थी, वह ध्वस्त हो गई है। पर्यावरण का संकट बुनियादी संकट है, लेकिन विकसित देशों को धरती गरम होने से बर्फ पिघलने से उत्तरी गोलार्ध में खनिजों के नए भंडारों के दोहन और व्यापार की संभावना दिखने लगी है। भारत जैसे देशों को विकास की एक अलग राह खोजना होगा जो प्रकृति के साथ सामंजस्य, गांव, खेती, छोटी इकाई और समानता व सहयोग पर आधारित हो। इसके लिए राष्ट्र-राज्य, फौज और बड़े उद्योगों के गठजोड़ को तोड़ना होगा। क्यूबा जैसे प्रयोगों से भी हम सीख सकते हैं।*

वैकल्पिक विकास के मॉडल की बात करना आज उसी तरह अर्थहीन है जैसे कभी यूटोपिया की बात करना समाजवादी आंदोलन के प्रारंभिक काल में था। कोई भी व्यवस्था सामने की हकीकत के संदर्भ में ही बनती है, बनी-बनाई कल्पना के अनुरूप नहीं। ऐसे किसी भी मनचाहे ब्लूप्रिंट को लागू करने का प्रयास या तो धर्मांधता को जन्म देता है या तानाशाही को। आज चूंकि पर्यावरण का संकट विविध रूपों में हमारे अस्तित्व के लिए सर्वाधिक महत्व का बन गया है, इसलिए हमें समाज निर्माण की वैसी दिशा अपनानी होगी जो पर्यावरण के लिए कम से कम नुकसानदेह हो। अगर ऐसे परिवर्तन हमारे बूते के बाहर दिखें तो हम स्वयं सामाजिक जीवन को बदली स्थिति के अनुकूल ढालें।

एक बुनियादी बात ध्यान में रखना जरूरी है। शोषणमुक्त समाज में पर्यावरणीय संतुलन बनाए रखने की क्षमता गैरबराबर समाज से अधिक होती है, क्योंकि गैरबराबरी से ही दिखावे के लिए बेजरूरत तामझाम पर खर्च जरूरी होता है, और बाजार आश्रित पूँजीवादी समाज में तो बेजरूरी वस्तुओं के उत्पादन व उपभोग की भूमिका इतनी महत्वपूर्ण है कि इसे नियंत्रित करने से पूँजीवादी व्यवस्था ध्वस्त हो सकती है। इससे यह तो जरूर कहा जा सकता है कि प्रकृति से तालमेल बिठा कर चलनेवाली कोई भी व्यवस्था समता के मूल्यों पर ही आधारित हो सकती है। इन बातों को ध्यान में रख एक सीमित संदर्भ में ही विकल्प की बात की गई है। कुछ सीमाओं व कुछ

संभावनाओं का संकेत भर दिया गया है।

वैकल्पिक मॉडल की चर्चा करने से पहले वर्तमान में जो मॉडल चल रहा है, उसके मूल तत्व और उसकी दिशा को समझना जरूरी है और इसके उन परिणामों को भी, जिनसे विकल्प की तलाश जरूरी लगती है। विकल्प कैसा होगा, यह बहुत कुछ इन परिणामों की समझ पर ही निर्भर करेगा। आदमी विधाता की तरह मनमाने ढंग से सृष्टि कर नहीं सकता।

किसी भी समाज की मूल संरचना को समझने के लिए उसके आर्थिक पक्ष को यानी आदमी के भोजन, आवास, परिवहन, उनके आपसी आदान-प्रदान में सहयोग और तनाव के तत्व और इन्हें संचालित करने वाले बलों की पहचान जरूरी है। लेकिन इसके आगे हर समाज का आदर्श लक्ष्य होता है, जो नियामक शक्ति का काम करता है। यहां एक तरह का खिंचाव (टेलियोलॉजी) होता है। सब कुछ वर्तमान बलों के दबाव और संतुलन से निर्धारित नहीं होता, बल्कि इन बलों के परिप्रेक्ष्य में एक काल्पनिक, पर अटल आकर्षक बिंदु होता है जो लगातार समाज को अपनी ओर खींचता रहता है, यूनानी मिथक के 'सायरनों' की तरह।

मार्क्स ने उत्पादन के साधन और इनसे जुड़े उत्पादन संबंधों को विकास की दिशा का नियामक बता कर एक तरह के तकनीकी नियतिवाद को जन्म दिया। उन्होंने यह भी मान लिया कि एक स्तर पर तकनीक और उत्पादन संबंध में विरोध पैदा होता है

और इससे क्रांतिकारी बदलाव की शुरुआत होती है। लेकिन पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन की तकनीक के उत्पादन संबंध यानी पूंजीपति व मजदूरों के संबंध और उनके बीच के तनाव पर हावी होते दिखते हैं। मजदूर पूंजीपतियों से कुछ बिंदुओं पर तनाव के बावजूद समग्रता में व्यवस्था के मूल्यों को आत्मसात कर उसके विकास के साथ ही अपने हित को जोड़ने लगा है। प्रारंभिक बागी तेवर को छोड़, जिसे समायोजन की पीड़ा कहा जा सकता है, मजदूरों में पूंजीवादी व्यवस्था को पूरी तरह खत्म करने का संकल्प नहीं दिखा। प्रतिस्पर्धा आधारित पूंजीवाद मजदूर समेत हर नागरिक को एस्केलेटर (एक बिजली चालित सीढ़ी) पर खड़ा कर देता है, इस आश्वस्त के साथ कि वह ऊपर उठता जाएगा। व्यवस्था की सुविधा के हिसाब से तकनीक के नए आयाम विकसित होते रहते हैं। रूस, चीन और वियतनाम, सभी जगह कम्युनिस्ट नेतृत्व में क्रांतियां हुईं; वे तो पूंजीवादी विकास के प्रारंभिक दौर में ही थे और अंत में पूंजीवाद के विरोध की जगह फिर इसे पूर्णता में कबूल कर लिया गया। यह विडंबना ही है कि रूस और चीन की क्रांतियों से अति कठोर तानाशाही राज्य व्यवस्था

और अति उदार पूंजीवादी व्यवस्था पैदा हुई। इस सब से यह जाहिर है कि बीसवीं सदी के शुरु में समतामूलक व्यवस्था की जो आशा जगी थी वह खत्म हो चुकी है। यही नहीं, तकनीकी स्वर्ग पर पहुंचने की राह में नई बाधाएं खड़ी हो गई हैं। चिंता की बात यह है कि पूंजीवाद के आगे किसी अच्छे भविष्य की कल्पना जो दुनिया को मार्क्सवाद में दिखी थी, अब संदिग्ध है। इक्कीसवीं सदी के प्रारंभ में हम जैसे आश्वस्त नहीं हैं जैसे एक सदी पहले थे।

हम कहाँ जा रहे हैं, इसके सही आकलन के लिए उस खिंचाव के उद्गम और उसे ऊर्जा देने वाले तत्वों का, जिसका जिक्र पहले हुआ है, आकलन जरूरी है। हमें यह भी देखना है कि यह हमें किसी स्वर्णिम भविष्य की ओर ले जा रहा है या बरबादी के गर्त में।

## औद्योगिक सभ्यता की सीमाएं

वर्तमान औद्योगिक समाज के नियामक तत्व अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी से परवान चढ़ी औद्योगिक क्रांति और इसके वे आदर्श हैं जो इसकी गति और अतियों को औचित्य प्रदान करते हैं। अपने विकास के क्रम में पूंजीवादी व्यवस्था ने तकनीकी दक्षता और इससे जुड़ी व्यावसायिक सफलता को मानव समाज का सर्वोच्च और सर्वजनीन आदर्श बना डाला। इस मान्यता के सार्वभौम होने से आर्थिक गतिविधियों का क्षेत्र एक वैश्विक अखाड़ा बन गया है, जहां सभी खिलाड़ी ऐसी मार-पछाड़ में लगे हैं जिसमें प्रतिस्पर्धा की मौत से ऊर्जा ग्रहण कर अधिक बलिष्ठ बना जाता है। इस प्रक्रिया को अंग्रेजी से उधार शब्दों में “कॉर्पोरेट कैनिबलिज्म” (कंपनियों का मानव भक्षण) कहा जा सकता है। फिर इससे प्राप्त बल से विजेता

दूसरे प्रतिद्वंद्वियों से भिड़ते रहते हैं। अनेक व्यवसायिक कंपनियों के दिवालिया होते जाने और कुछ के बढ़ते जाने का सिलसिला जारी रहता है। शेयर बाजारों में हर रोज होने वाले उतार-चढ़ाव का खेल इस प्रतिस्पर्धा का एक सौम्य प्रतिबिंब है। जीवन के मैदान में इसका

दूसरा पहलू दिखाई देता है, जिसमें कारखानों, खदानों तथा खेत-खलिहानों में मजदूर मालिकों से वेतन भत्ते के लिए या रोजगार की गारंटी के लिए युद्धरत हैं, किसान भुखमरी की कगार पर रहने को मजबूर हैं और समय-समय पर आत्महत्या कर अनवरत चलने वाले जीवन संघर्ष से छुट्टी पा लेते हैं। समय-समय पर अन्न संकट और अकाल से असंख्य मौतें तब भी होती रहती हैं, जब गोदामों में अनाज इस इंतजार में पड़ा रहता है कि अधिक मुनाफे पर उसे बेचा जा सके। इस समग्र प्रक्रिया को एक सुंदर नाम ‘उदारीकृत व्यवस्था’ दिया गया है।

यह कहा जा सकता है कि व्यवस्था की ये कमजोरियां तो रही हैं और इनकी आलोचना भी होती रही है लेकिन हमें रहना तो है इसी व्यवस्था से तालमेल या संतुलन बना कर। कुछ सुधार के उपाय

समझाए जा सकते हैं। कुछ समायोजन की तलाश हो सकती है। पर नयी उत्पादन तकनीक से जो ऊंचा जीवन स्तर इस व्यवस्था ने दिया है वह तो पुराने समय की किसी कल्पना से परे है। यह ठीक है कि ये सुविधाएं अभी थोड़े से लोगों तक सीमित हैं लेकिन आशा जगती है कि देर सबेर ये सुविधाएं सर्वव्यापी हो जाएंगी। यही आशा है जो सारे संसार को एक तकनीकजनित स्वर्ग की आकांक्षा में मुग्ध रखती है और व्यवस्था को एक नियोजित पथ पर चलाती रहती है।

इस व्यवस्था के सुधार की दिशा में कुछ अलग उलझन है। इसके सुधार की तलाश व्यवस्था के उदगम की ही ओर ले जाएगी और वहां बुनियादी सुधार का अर्थ होगा व्यवस्था की मौत। क्योंकि यह मनुष्य और प्रकृति दोनों के शोषण पर पूरी तरह आश्रित है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में कम्युनिस्ट विचारधारा के आदि स्रोत कार्ल मार्क्स ने पूंजी के विकास में (जो इस व्यवस्था का निर्धारक है) श्रम के शोषण की केंद्रीय भूमिका को रेखांकित किया और आदिम पूंजी संचय (प्रिमिटिव एक्युमुलेशन) की क्रूर प्रक्रिया से लेकर परिष्कृत रूप से स्थापित पूंजीवादी प्रतिष्ठानों में अदृश्य रूप से होने वाले श्रमिकों के शोषण के विविध रूपों का विशद वर्णन किया। उन्होंने यह भी स्थापित किया कि उत्पादन प्रक्रिया में श्रमिकों के शोषण से प्राप्त श्रम का अधिशेष ही पूंजीपति के मुनाफे का स्रोत है। उत्पादन एवं विपणन में मजदूरों से चुराए गए श्रम के अधिशेष के बराबर के उत्पाद की खरीदारी का टोटा बना रहता है। इसी से पूंजीवाद के अनिवार्य संकट की बात की गई। पर, बार-बार मंदी का संकट झेलकर भी पूंजीवादी व्यवस्था ध्वस्त नहीं हुई। यूरोप का 1968 का छात्र विद्रोह या 'ऑकुपाई वाल स्ट्रीट' जैसे सांकेतिक विद्रोह, व्यवस्था के लिए महज सेप्टीवॉल्व साबित हुए हैं। पूंजीवादी व्यवस्था अपने अंतर्विरोध के साथ उदारीकरण के नाम से ज्यादा विस्तार पाती रही है। जैसा कि पहले कहा गया है, उलटे रूस, चीन आदि में क्रांति के बाद के काल में पूंजीवाद अधिक शक्तिशाली हो फिर स्थापित हो गया। क्यूबा एक अपवाद है और इसका कारण अपनी विशेष परिस्थितियों के अनुरूप विशालता को छोड़ लघुता की अर्थव्यवस्था की ओर मुड़ना था। पर, यह प्रचलित औद्योगिक विकास की मुख्यधारा के विपरीत आचरण है।

## पूंजीवादी तकनीक और मार्क्स का सम्मोहन

श्रमिकों के शोषण और इससे उपजे बाजार के संकट एवं व्यापार चक्र यानी उत्पादन की तेजी और मंदी के चक्र की समझ मार्क्स के अर्थशास्त्र में दूसरे विचारों से अधिक विश्वसनीय लगती है। लेकिन अनवरत औद्योगिक विकास की जो संभावना पूंजीवादी तकनीक में दिखाई देती थी उसके प्रति मार्क्स में एक सम्मोहन भी था जो 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' में जाहिर होता है जहां पूंजीवाद की उपलब्धियों को इन शब्दों में गरिमा मंडित किया गया है : 'प्रकृति की शक्तियों को मनुष्य के मातहत करना, मशीन व रसायन शास्त्र को उद्योग और कृषि में लगाना, भाप से समुद्री जहाज, रेल और इलेक्ट्रिक टेलीग्राफ चलाना, पूरे महादेशों को खेती के लायक बनाना, नदियों से सिंचाई के लिए नहर, भूमि से हटात पूरी आबादी का बाहर आना; किसी पूर्ववर्ती सदियों की कल्पना में भी सामाजिक श्रम की ऐसी उत्पादकता नहीं रही होगी।'

इस सोच में प्रकृति का निर्बाध दोहन दोषरहित दिखाई देता है और इसी से श्रम के मूल्य सिद्धांत में एक बुनियादी बात नजरअंदाज कर दी जाती है। पूंजी श्रम के दोहन से आती है, यह तो मूल्य के श्रम सिद्धांत से स्पष्ट हो जाता है। यह भी दिखाई देता है कि अंततः संचित पूंजी मजदूरों के श्रम के अधिशेष (सरप्लस लेबर) का संचय है। लेकिन इस बात को नजरअंदाज कर दिया गया है कि संचित श्रम सदा किसी उत्पाद का रूप लेता है और यह उत्पाद प्रकृति से प्राप्त कच्चे माल, खनिज आदि के रूपांतरण से एवं ऊर्जा प्रदान करने वाले कोयला, तेल आदि को जलाकर प्राप्त होता है। दरअसल, अत्याधुनिक उद्योगों में मानव श्रम – जो कि ऊर्जा का ही एक परिष्कृत और संचित रूप है – अपना महत्व खोता गया है और मशीन एवं रोबोट धीरे-धीरे इनका काम संभालने लगे हैं। इस कोण से देखने पर यह तुरंत जाहिर होता है कि चूंकि धरती के संसाधन – चाहे वे धरती से पैदा वनस्पति हों, खनिज हों या ऊर्जा देनेवाले कोयला, पेट्रोलियम या प्राकृतिक गैस – इनके अतिदोहन से कुछ दिनों के बाद संकट पैदा होगा। ये जीवाष्म ईंधन हैं और एक तरह से गड़े खजाने जो उतनी ही जल्दी खतम हो जाएंगे जितनी अधिक मात्रा में इनका दोहन होगा। आज का पर्यावरण संकट इन्हीं प्राकृतिक संसाधनों के अतिदोहन का

परिणाम है और ज्यादा बुनियादी है। इसमें सबसे महत्वपूर्ण ऊर्जा का संकट है, जो ऊर्जा प्रदान करनेवाले साधनों के घटते जाने से और फिर इन्हें जलाने से पैदा कार्बन डाइऑक्साइड तथा अन्य गैसों के वायुमंडल में जमा होने से और कथित 'ग्रीनहाउस इफेक्ट' से, जिससे धरती का तापमान बढ़ता जा रहा है, पैदा हुआ है।

इसके परिणाम के बारे में इतना कुछ कहा जा रहा है कि यहां कुछ विस्तार से कहना जरूरी नहीं है। लेकिन प्रारंभिक चिंता के बाद अचानक औद्योगिक रूप से समृद्ध देशों में, जो प्रायः समशीतोष्ण या शीत कटिबंधों में पड़ते हैं, अब इस समस्या को नजरअंदाज किया जा रहा है। इससे यह आशंका पैदा होती है कि अब दो अलग-अलग दुनिया बनने जा रही हैं। एक संपन्न, प्रायः ऊंचे कटिबंध में पड़नेवाले देशों की और दूसरी गरीब व प्रायः विषुवतरेखा के पास के कटिबंधों में पड़नेवाले देशों की जिनमें हमारा देश भारत भी शामिल है।

यों तो ऊर्जा संकट और प्रदूषण के प्रभाव पर ई.एफ. शुमाखर के 'स्मॉल इज ब्यूटीफुल', और 'क्लब ऑफ रोम' के अध्ययन 'द लिमिट्स ऑफ ग्रोथ' के प्रकाशन के बाद से ही पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में चर्चा होने लगी

थी। लेकिन इस पर दुनिया के राष्ट्रों द्वारा सक्रिय पहल 1992 के ब्राजील के रियो डी जेनेरो में होने वाले शिखर सम्मेलन से शुरू हुई। इसके बाद 1994 में क्योटो प्रोटोकॉल नाम से एक समझौता हुआ और तय हुआ कि औद्योगिक देश ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन 2012 तक 1990 के स्तर से 5.2 प्रतिशत घटा देंगे। लेकिन दुनिया के सबसे बड़े औद्योगिक देश और प्रति व्यक्ति सबसे अधिक उत्सर्जन करने वाले अमेरिका ने इस पर अपनी स्वीकृति नहीं दी। कार्बन डाइऑक्साइड का उत्सर्जन 1990 में 22.7 अरब टन था। क्योटो प्रोटोकॉल में इसे घटाकर 21.5 अरब टन करने का लक्ष्य था। लेकिन 2010 में यह बढ़कर 33 अरब टन हो गया। यानी घटने की बजाय डेढ़ गुना अधिक हो गया।

दरअसल, औद्योगिक प्रगति के उन्माद में प्रदूषण फैलाने वाले गैसों के उत्सर्जन को कम करने के

लक्ष्य को सदा नजरअंदाज किया गया। अंततः यह सारा संकल्प गायब हो गया। चीन और भारत जैसे देश तेज विकास के लोभ में इसे नजरअंदाज करते रहे और विकसित देशों को अपने विकास का एक वैकल्पिक क्षेत्र दिखने लगा, जहां धरती का बढ़ता ताप नए भूभागों में विकास का दरवाजा खोलता नजर आने लगा है। अमेरिका तो पहले ही क्योटो समझौते से बाहर था। 2011 में कनाडा क्योटो समझौते से बाहर हो गया। सिर्फ यूरोप के देश कटौती करते रहे। कनाडा का बहाना था कि अमेरिका और चीन घटाने के बजाय उत्सर्जन बढ़ाते रहे हैं।

### पर्यावरण रक्षा से हटने का असली कारण

पर्यावरण की रक्षा से पश्चिमी देशों के पीछे हटने का असली कारण दूसरा लगता है। अमेरिका और उत्तरी शीत कटिबंध में पड़ने वाले यूरोप के कुछ दूसरे संपन्न देशों को ध्रुव प्रदेश में बर्फ के पिघलने से खनिजों और प्राकृतिक गैसों का नया खजाना हासिल होने और यातायात का नया मार्ग खुलने की संभावना है और रूस और दूसरे देश इस क्षेत्र में अपनी सामरिक उपस्थिति बढ़ाने में

लगे हैं।

2010 के अगस्त महीने में रूस की एक प्राकृतिक गैस कंपनी 'नोवोटेक' ने एक लाख चौहत्तर हजार टन के एक टैंकर 'बाल्टिका' को उत्तरी ध्रुव प्रदेश के सागर के रास्ते चीन भेजा। उनका अनुमान है कि इस मार्ग के खुल जाने से यूरोपीय देशों के लिए एक छोटा और सस्ता व्यापारिक मार्ग खुलेगा जो प्रायः शीत कटिबंधों से होकर गुजरेगा। यह पथ मुरमास्क से शंघाई तक 10,600 कि.मी. लंबा है, जबकि स्वेज से होकर वहां पहुंचने का मार्ग 17,700 कि.मी. है। उत्तरी मार्ग के खुल जाने से कनाडा, अमेरिका, यूरोप, चीन, जापान आदि यानी वे सभी देश जो आधुनिक व्यापार की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं तात्कालिक रूप से ग्लोबल वार्मिंग से लाभान्वित होंगे। आर्कटिक प्रदेश में खनिजों का विशाल भंडार होने का अंदाज है और इसलिए आर्कटिक के पास

के देशों यथा रूस, नार्वे, डेनमार्क, कनाडा, अमेरिका आदि में अभी से इन खनिजों पर अधिकार जमाने के लिए राजनयिक होड़ शुरू हो गई है।

उत्तर और दक्षिण का जो विभाजन पहले ही से उजागर होता आया है अब अधिक गहराएगा और उत्तर और दक्षिण के देश विकास की एक ही दिशा में आगे और पीछे, धीमे और तेज चलने वाले नहीं रह पाएंगे। तथाकथित विकासशील देशों को बिलकुल अलग राह अपनाने की मजबूरी होगी। शीत और समशीतोष्ण कटिबंधों के देश नए संसाधनों के चुकने तक इस अंधी दौड़ में ही रहेंगे। एक अर्थ में फिलहाल ऊंचे अक्षांशों में बसे देश एक ही तरह की 'स्कॉर्चर्ड अर्थ पॉलिसी' (फौज द्वारा पीछे हटते वक्त सब कुछ जलाने और नष्ट करने की नीति, जिससे दुश्मन की फौज उनका उपयोग न कर पाए) में संलग्न हैं और बाकी दुनिया को जलता छोड़ शीतल प्रदेशों की ओर पलायन की मुद्रा में हैं जहां से वे अपनी जरूरत के हिसाब से बाकी जगहों पर पांव पसारते रहेंगे। हम वैश्विक स्तर पर ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन और प्रदूषण पर कोई रोक नहीं लगा सकते और एक हद तक उससे प्रभावित होते रहेंगे।

लेकिन भारत और तथाकथित विकासशील देश अपने लिए एक अलग राह की तलाश तो कर ही सकते हैं जो प्रकृति पर विजय पाने के बजाय प्राकृतिक शक्तियों और परिवेश से सहयोग और प्रकृतिप्रदत्त जीवन की लय से जोड़ कर चलने के संकल्प पर आधारित हो।

## भोजन श्रृंखला और सूरज की अक्षय ऊर्जा

जीवन का आधार पोषाहार है। प्रकृति में सहस्राब्दियों से एक 'फूड चेन' (भोजन श्रृंखला) रही है जिसमें एक स्वाभाविक प्रक्रिया से असंख्य वनस्पतियां और जीव जीवन ग्रहण करते रहे हैं। इस फूड चेन का आधार सूरज से प्राप्त होने वाली ऊर्जा है जो

अरबों वर्ष तक प्राप्त होती रहेगी, ऐसा वैज्ञानिकों का अनुमान है। शैवाल से लेकर घास और विशाल वृक्षों के पत्तों तक सूरज की किरणों से प्रकाश-संश्लेषण की क्रिया होती है। इसी प्रक्रिया से असंख्य वनस्पतियों का विकास होता रहा है और इनमें अन्न, फल, फूल लगते रहे हैं। इन्हीं से मनुष्य और अनेक दूसरे जीव पोषण पाते हैं। इन वृक्षों के फूल और पत्तों से अनेक कीट और पतंगे भोजन पाते हैं। फिर इन कीट पतंगों को खाकर मेढ़क या दूसरे कई जीव भोजन पाते हैं और फिर इन जीवों से मछलियां आहार पाती हैं और स्वयं मनुष्य या दूसरे जीवों का आहार बनती हैं। वनस्पति से अनेक चौपाये अपना आहार पाते हैं। फिर इनका शिकार कर शेर, भेड़िये आहार पाते हैं। जब से मनुष्य ने खेती और पशुपालन शुरू किया, कृषि कार्यों के अलावा ये पशु लंबे समय तक उनके भोजन में मांस, दूध आदि प्रदान करते रहे हैं। कुछ सीमित स्थानों पर जलनिकासी और सिंचाई के लिए स्वाभाविक रूप से बहने वाली जलधारा मसलन

झरनों या हवा चक्की का भी प्रयोग हुआ, जैसे हॉलैंड में जलनिकासी के लिए। ये सब सूरज की ऊर्जा के स्वाभाविक प्रभाव के ही प्रतिफल थे। सहस्राब्दियों से धरती सूरज के ताप की ऊर्जा से लाभान्वित होती रही है।

यह सारी जीवन प्रक्रिया भौतिक शास्त्र के अटल माने गए 'एन्ट्रोपी' के सिद्धांत को पलटने जैसा चमत्कार रही है। 'एन्ट्रोपी' का

करोड़ों वर्ष से अनेक उथल-पुथल के बावजूद जैव जगत के आस्तित्व में आने के बाद से आज तक एन्ट्रोपी के नियम का उल्लंघन यानी एक तरह की सविनय अवज्ञा जारी रही है। एन्ट्रोपी के नियम को अपने छोटे से दायरे में पलटने के लिए जीव जगत को सूरज से ऊर्जा प्राप्त होती है। यह सूरज की ऊर्जा जीव जगत की लघुता के हिसाब से असीम है। जब मनुष्य जीवाश्मों या किसी दूसरे स्रोत से आज मशीन चलाता है तो एन्ट्रोपी बढ़ाने लगता है। अगर जीवन का कोई रहस्य है तो यही है।

नियम है कि संसार भर में ऊर्जा अबाध रूप से सम स्तर की ओर बढ़ रही है, जहां ऊर्जा के संचरण का अंत हो जाएगा। इसे पूर्ण एन्ट्रोपी का नाम दिया गया है। लेकिन धरती पर व्याप्त जीव जगत में असंख्य जीवों और वनस्पतियों के जीवन चक्र में इसके उलट ऊर्जा विविध स्तरों पर उपस्थित है और उसमें नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे दोनों ही तरफ से ऊर्जा का संचरण जारी रहता है। एन्ट्रोपी के नियम को अपने छोटे से दायरे में पलटने के लिए

जीव जगत को सूरज से ऊर्जा प्राप्त होती है। यह सूरज की ऊर्जा जीव जगत की लघुता के हिसाब से असीम है। जब मनुष्य जीवाश्मों या किसी दूसरे स्रोत से आज मशीन चलाता है तो एन्ट्रोपी बढ़ाने लगता है। अगर जीवन का कोई रहस्य है तो यही है। उसके पीछे एक व्यापक संवेदनशीलता है जो फूल के एक दल से लेकर मनुष्य तक में मौजूद है। आदमी फूल और तितलियों से लेकर पक्षियों तक पर काव्य की रचना कर सकता है तो इसलिए क्योंकि जीवन के इस रहस्य से सभी बंधे हैं। यह कहा जा सकता है कि मानव चेतना और संवेदना का सारा परिवेश इस भोजन श्रृंखला पर आधारित है।

ऊपर वर्णित भोजन श्रृंखला के ठीक उलटा एक दूसरी भोजन श्रृंखला व्यापक होती जा रही है। इस भोजन श्रृंखला के प्रारंभिक सिरे पर विशाल बूचड़खानों में या पॉल्ट्री फार्मों में कैद गाय, बैल, सूअर एवं मुर्गी को मारकर तैयार किया गया गोश्त है। फिर यहां से अनेक तरह के वसा में तैयार तले-भुने पकवान, बिस्कुट आदि जिन्हें चटपट खाया जा सकता है, — टीन, एल्मुनियम एवं प्लास्टिक से तैयार डब्बों में भरा जाते हैं और खर्चीले वाहन से उपभोक्ताओं तक पहुंचाए जाते हैं। इस प्रक्रिया में व्यवहार में आने वाले हर आइटम को बिजली या गैस की भट्टियों से गुजारा गया होता है, या ऊर्जा गटकनेवाले फ्रिजों में रखा गया होता है। इस भोजन श्रृंखला की शुरुआत खेत-खलिहान या बागानों से नहीं होती जहां पौधों में अन्न और वृक्षों में फल लगते हैं। बल्कि किसी ख्यात खाद्य व्यवसायी कंपनी जैसे वॉल मार्ट से होती है और खर्चीले विज्ञापनों एवं परिवहन के माध्यम से इन्हें संसार के हर कोने में फैले उपभोक्ताओं तक पहुंचाया जाता है। इसमें ऊर्जा के अति व्यय से एक तरफ वैश्विक ताप बढ़ता है और दूसरी ओर संपन्न लोगों में मोटापा और उससे जुड़ी बीमारियां, जिनके लिए खर्चीले अस्पतालों की व्यवस्था करनी होती है। विशाल पैमाने पर कोयला, तेल और गैस से बिजली तैयार होती है या फिर बड़ी पनबिजली योजनाओं से, जिनमें जंगल और आदमियों के आवास डूबते जाते हैं। जो जंगल कभी कार्बन डायक्साइड की मात्रा को घटाते थे, अब डूबकर ऐसी गैसों का उत्सर्जन करते हैं जिनसे धरती का ताप बढ़ता है।

## ऋणात्मक कृषि और घटते जीवाश्म ईंधन

सबसे चिंता की बात यह है कि नई कृषि

व्यवस्था में रोजगार देने की क्षमता नगण्य है। 1885 में अमेरिका की आधी से अधिक आबादी खेती में लगी थी। 1985 में यह संख्या पूरी आबादी के 3 प्रतिशत से कम हो गई। यह भी दिलचस्प है कि जिस चमत्कार से यानी मशीनीकरण से आबादी का सिर्फ 3 प्रतिशत विशाल मात्रा में अन्न उत्पन्न करता है उसी का फल यह भी है कि वहां का काश्तकार विभिन्न यंत्रों पर खर्च किए गए 5 कैलोरी ऊर्जा से सिर्फ 1 कैलोरी देने वाला अनाज पैदा करता है। यानी अपनी क्षमता में यह कृषि ऋणात्मक है। इससे हम समझ सकते हैं कि अमेरिकी कृषि काश्तकारों को भारी सब्सिडी दिए बगैर जिंदा क्यों नहीं रह सकती। इस सब्सिडी को लेकर विश्व व्यापार संगठन में विकासशील देशों से वार्ता में गतिरोध बना हुआ है।

एक और बात ध्यान देने योग्य है। प्रारंभिक कृषि एक प्राकृतिक चक्र से बंधी थी जिसमें घास, फसल, वृक्ष आदि का जो अवदान अन्न और मवेशियों को चारा देने में होता था वह काफी कुछ पत्तों, पुआल, भूसा आदि के सड़ने या पशुओं के मल-मूत्र से जमीन में लौट आता था और उत्पादन चक्र को बिना विशेष क्षति के जारी रखता था।

इसके उलट, आधुनिक खेती में उर्वरकों विशेषकर नाइट्रोजन देने वाले उर्वरकों पर निर्भरता एक दूसरा संकट करीब ला रही है। नाइट्रोजन प्रदान करने वाले उर्वरक का मूल स्रोत प्राकृतिक गैस है जो परिवहन में खर्च होने वाले ईंधन का भी सबसे आकर्षक स्रोत है क्योंकि यह कोयला या पेट्रोल से कम प्रदूषण फैलाता है। इस तरह हम मोमबत्ती को दोनों छोर पर जला रहे हैं। हमें उर्वरकों के लिए ज्यादा से ज्यादा प्राकृतिक गैस चाहिए और फिर परिवहन के लिए भी। हम कैसे एक संकट से उबरने के लिए दूसरे संकट में फंस रहे हैं, इसका एक उदाहरण पेट्रोलियम के घटते भंडार की आपूर्ति के लिए मक्का, ईख, रतनजोत आदि से एथानोल तैयार करने का प्रयास है। इन फसलों के लिए भी हमें प्राकृतिक गैस से नाइट्रोजन देनेवाले उर्वरक बनाने पड़ते हैं जो प्राकृतिक गैस की आपूर्ति पर नया बोझ डालता है। ये सब उपाय अंततः समस्याओं को अधिक मुश्किल बनाते हैं।

प्राकृतिक गैस के साथ-साथ दूसरे जीवाश्म ईंधन भी घटते जा रहे हैं। आज दुनिया भर की अनियंत्रित महंगाई के पीछे इन ईंधनों के भंडार का

तेजी से घटते जाना है। 1960 के एक या दो डॉलर प्रति बैरल के मुकाबले आज कच्चे पेट्रोल (क्रूड) की कीमत सौ डॉलर के लगभग पहुंच गई है। इनके स्रोत जैसे-जैसे विरल होते जाएंगे ये अधिक महंगे होंगे और चूंकि ये परिवहन से लेकर सभी तरह के उद्योग-धंधों और बिजली उत्पादन के लिए महत्वपूर्ण हैं, ये महंगे होते-होते कृषि समेत अधिकांश गतिविधियों के लिए दुर्लभ हो जाएंगे। आज की अनियंत्रित महंगाई भविष्य के ऐसे ही संकट का संकेत है, जहां जीवन के सारे व्यापार ठप हो जाएंगे।

इस समस्या का एक राजनीतिक आयाम भी है जो पार्श्वभूमि से व्यवस्था को टिकाए रखता है और इसको विकाराल बनाता है। यह है औद्योगिक क्रांति और पूंजीवाद के विकास के साथ राष्ट्र-राज्यों का अस्तित्व में आना और वृहत आकार ग्रहण करते जाना। औद्योगिक क्रांति के पहले के दिनों में राज्य व्यवस्थाएं या तो राजाओं की साम्राज्य विस्तार की लालसा का प्रतिफल

होती थी या कबीलाई आस्मिता और इसके दायरे की पहचान। सत्तासीन कबीलाई शिखर पुरुष की शक्ति का प्रतीक इनका फैला हुआ राज्य या इनकी शानो-शौकत का इजहार करने वाली सजावट की वस्तुएं

होती थीं। लेकिन राज्य के विस्तार का इनकी समृद्धि से सीधा जुड़ाव नहीं होता था। यूरोप में वर्तमान राष्ट्र-राज्यों की पृष्ठभूमि दूसरी से छठीं शताब्दी तक का वह कबीलाई संक्रमण काल है जिसमें विभिन्न कबीलाई समूह यूरोप के विभिन्न भागों में आकर बस गए और पहले के निवासियों को या तो विस्थापित किया या उन पर वर्चस्व कायम किया।

यूरोप के ज्यादातर राष्ट्र-राज्यों का विकास इन्हीं के इर्द-गिर्द हुआ। औद्योगिक क्रांति एवं पूंजीवाद के विकास के साथ इन राष्ट्र-राज्यों के दायरे को विस्तृत और सख्त बनाया गया है, जिससे छोटे-छोटे दायरे को तथा पूंजी के अवरोधों को निरस्त कर व्यापारिक गतिविधियां बड़े दायरे में हो सकें। नेपोलियन के सैनिक अभियानों के बाद पूरे यूरोप में राष्ट्रवादी उभार आया और राष्ट्र-राज्यों

की शक्ति का संकेंद्रीकरण हुआ। इस संपर्क से संसार भर में राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ। पूंजीवादी हित से इसका गहरा रिश्ता इस बात में दिखता है कि इधर, हाल के दिनों में फिर से राष्ट्र-राज्य के विखंडन की एक स्वाभाविक प्रक्रिया शुरू हुई है। यूरोपीय संघ के अस्तित्व में आने के बाद यूरोप के राष्ट्र-राज्यों का आर्थिक-सामरिक महत्व नगण्य हो गया है। इससे इनमें कबीलाई आधार पर विखंडन की प्रक्रिया भी शुरू हुई है। सर्बिया के वर्चस्व के विरोध में युगोस्लाविया के क्रोट आदि अलग हो गए हैं। चेकोस्लोवाकिया में चेक और स्लोवाक अलग राष्ट्र बन गए, ब्रिटेन में स्कॉट अलग होने के कगार पर हैं।

### राज्य, फौज और उद्योगों का गठजोड़

राष्ट्र-राज्यों का सबसे महत्वपूर्ण और भयावह पक्ष रहा है मिलिट्री इंडस्ट्रियल कॉम्प्लेक्स का अस्तित्व में आना। इससे राज्यों के सैनिक तंत्रों और औद्योगिक प्रतिष्ठानों का एक जबरदस्त गठजोड़ हुआ। 19वीं शताब्दी के अंत से लेकर आज तक राज्यों का स्वरूप चाहे जो रहा हो — राजशाही, तानाशाही या लोकशाही-फौज और इसकी जरूरतों को पूरा

करनेवाले एक विशाल औद्योगिक तंत्र का गठजोड़ लगातार मजबूत हुआ है। फौज देश में व विदेश में जरूरत होने पर उद्योगों के हितों की रक्षा के लिए तत्पर रहती है और उद्योग उन्हें नवीनतम आयुध और दूसरी उपयोग की वस्तुएं मुहैया कराते रहते हैं। फौज के आयुधों की मांग औद्योगिक व्यवस्था की मंदी के संकट से उबारने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। अत्याधुनिक उपकरण पाने की होड़ में हर पांच-दस साल में हथियार पुराने पड़ते जाते हैं और कबाड़ का ढेर बन जाते हैं। नित्य नए हथियारों का उत्पादन जारी रहता है। यह सुविधा उत्पादन के किसी दूसरे क्षेत्र में नहीं है क्योंकि वहां बाजार की सीमा और बिक्री की समस्या आने लगती है।

आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था में राष्ट्र-राज्य



और फौज के इस गठजोड़ की चर्चा इसलिए की गई क्योंकि शुमाखर के 'स्मॉल इज ब्यूटिफुल' या गांधी के ग्राम गणराज्य की अवधारणा, जो किसी वैकल्पिक मॉडल की निर्देशिका होगी, वर्तमान फौजी राष्ट्र-राज्य के किसी मॉडल के साथ तालमेल नहीं बैठा सकती। अंतरिक्ष यानों पर अनुसंधान या परमाणु हथियारों का विकास धरती के संसाधनों का सबसे खतरनाक और निरर्थक अपव्यय है। जरूरत वैसे विकास की है जहां प्रकृति के स्वाभाविक रुझान, प्राकृतिक ऊर्जा के प्रवाह और धरती की बनावट के साथ कम से कम छेड़छाड़ हो। यह बड़े राष्ट्रों के ढांचों के साथ नहीं हो सकता। इनमें समय-समय पर होने वाली चुनावी कवायद के बावजूद असली सत्ता एवं संसाधनों का नियंत्रण अपने को लगातार फ़ैलाने वाली नौकरशाही के हाथ में होता है। इसका सहज रिश्ता औद्योगिक प्रतिष्ठानों के उस तंत्र से बैठता है, जिसे प्रख्यात अर्थशास्त्री गैलब्रेथ ने टेक्नोस्ट्रक्चर का नाम दिया था। ये राष्ट्र-राज्य कैसे टूटेंगे, यह अभी दिखाई नहीं देता। लेकिन इसके बगैर अतिलघु इकाइयों में जनता के स्वनिर्णय के अधिकार की बात करने का कोई अर्थ नहीं होता। अभी हम जरूरी कदमों की कल्पना ही कर सकते हैं।

सबसे पहले तो वन प्रदेशों या अन्य जगहों में रहने वाले आदिवासियों के परंपरागत जीवन से कोई छेड़छाड़ नहीं होगी। इन्हें सैलानियों के हस्तक्षेप से भी मुक्त रखना होगा। वनप्रदेशों और आदिवासी-बहुल क्षेत्रों में परिवेश से छेड़छाड़ प्रतिबंधित होगी। मसलन, वनों की कटाई, खनिजों के लिए खनन, उनके लिए रेल या सड़क का विस्तार, क्षेत्र में बहने वाली जलधारा, झरनों, नदियों आदि के प्रवाह को रोकना आदि। ये सब तो उन लोगों की जीवन पद्धति को बचाने के लिए होंगे

जो अब तक आधुनिक औद्योगिक सभ्यता की चपेट में नहीं आए हैं। लेकिन बाकी लोगों के जीवन में भी बड़े परिवर्तन की जरूरत होगी। शहरीकरण की प्रक्रिया को पलटना होगा और कृषि और दूसरे उद्यमों को इस तरह वितरित करना होगा कि कृषि और उद्योग एक दूसरे से जुड़े और करीब हों। गांव में ही, जहां खेती होती है, लोगों की जरूरतों को पूरा करने के लिए लघु और कुटीर उद्योग लगेंगे।

### क्यूबा से सबक

संपन्न देशों के ध्रुव प्रदेशों की ओर रुख करने और ऊर्जा स्रोतों पर उनकी कंपनियों की लगभग पूरी इजारेदारी का असर कुछ वैसा ही हो सकता है जैसा सोवियत यूनियन के विघटन के बाद क्यूबा की अर्थव्यवस्था पर हुआ था। अचानक सोवियत यूनियन से प्राप्त होने वाले सस्ते पेट्रोलियम पदार्थों का मिलना बंद होने और क्यूबाई चीनी निर्यात के लिए बाजार खत्म हो जाने से उसे अपनी अर्थव्यवस्था को बिलकुल अलग तरह की दिशा देनी पड़ी। वहां के विशाल कृषि

फार्मों को तोड़ छोटे सहयोगी फार्मों में बदल दिया गया। नियोजित ढंग से ट्रैक्टरों एवं पेट्रोल से चलने वाली खेती की दूसरी मशीनों की जगह बैलों से चलने वाले उपक्रम विकसित हुए। इसके लिए नियोजित ढंग से बैलों की वंशवृद्धि की गई। शहरों के इर्दगिर्द एवं शहरों में छोटी क्यारियों में साग-सब्जियों की खेती शुरू हुई जिससे लोगों की फल-सब्जी आदि की जरूरतें पूरी की जा सकें। कृषि और उद्योगों के साथ-साथ और आत्मनिर्भर विकास से परिवहन का खर्च बिलकुल कम हो गया।

आज के तथाकथित विकासशील देशों की भी वैसी ही स्थिति बनने वाली है, जैसी सोवियत यूनियन के विघटन के बाद क्यूबा की बनी थी। क्यूबा की तरह ही इन गरीब मुल्कों को भी यह सुविधा है कि ये अपेक्षाकृत गर्म प्रदेशों में हैं। इनकी ऊर्जा की जरूरत विकसित देशों की तुलना में काफी कम है। इन्हें अपने घरों को गर्म रखने की जरूरत नहीं होती। इन गर्म प्रदेशों में मौसम के हिसाब से जीवन को गर्मी और सर्दी की अतियों से बचाने की पारंपरिक परिपाटी रही है, जिससे हजारों वर्ष से ये लोग जीवनयापन करते रहे हैं। अति ठंडे संपन्न देशों में भी आधुनिक ढंग से सर्दी झेलने का प्रबंध आदर्श नहीं कहा जा सकता। आर्कटिक प्रदेश के एस्कीमो सैकड़ों या हजारों वर्ष से वहां की भीषण सर्दी में सुविधा से जीने की पद्धति विकसित करने में सफल हुए हैं। अब तक उनके नजदीक के नार्वे, स्वीडन आदि के आधुनिक लोग ग्रीनलैंड में आधुनिक उपकरणों के आधार पर रिहाइश बना नहीं पाए हैं। आस्ट्रेलिया के मूल निवासी वहां के मुश्किल रेगिस्तानी इलाकों में अपने छोटे घुमंतू गिरोहों में आखेट और कंद-मूल पर आधारित जीवन जी रहे हैं, जहां आधुनिक उपकरणों से लैस यूरोपवासियों के लिए जीवन असंभव बना हुआ है।

मनुष्य की स्वाभाविक प्रतिभा ऐसी है कि वह कठिन से कठिन परिवेश के अनुरूप जीवन पद्धति विकसित कर हजारों वर्षों से अपना अस्तित्व बचाए रहा है। प्रदूषण व ऊर्जा का नया संकट झेलने की नई तकनीक वे इसी तर्ज पर विकसित कर लेंगे। मानवजनित पर्यावरण के संकट के पहले मानव के पूर्वज ऊष्मता, सूखा और हिमयुग के कई काल झेल चुके हैं। आज पर्यावरण का संकट प्रलय जैसा इसलिए दिखाई देता है क्योंकि अल्पकालिक तकनीकी सफलता ने यह भ्रम पैदा कर दिया था कि मनुष्य प्रकृति की शक्तियों पर

विजय प्राप्त कर सकता है और अपने जीवन को इसके अनुकूल ढालने की कोई विवशता उसके सामने नहीं है। इस अहं से मुक्त हो मनुष्य अपने वैज्ञानिक ज्ञान का इस्तेमाल प्रकृति से सहज साहचर्य स्थापित करने में कर सकता है। अगर कोई विकल्प का मॉडल बनेगा तो उसकी वैचारिकी का यही सार तत्व होगा।

एक बात साफ दिखाई देती है। धरती के संसाधनों का संतुलित व जीवन के लिए जरूरी उपयोग तभी संभव है, जब आदमियों के बीच गैरबराबरी न हो और वे पारस्परिक सहयोग पर आधारित छोटी इकाइयों में रहें जैसे कृषि क्रांति के पहले के दिनों में रहते थे। तब जीवन का आधार फल-मूल जमा करना और आखेट था। आज हम उस अवस्था में नहीं जा सकते। उसका सबसे बड़ा कारण हमारी विशाल जनसंख्या है। इस भीड़ भरी दुनिया में

दस हजार साल के इतिहास का सबक हमें ऐसे समाज के सांस्कृतिक निर्धारण में सहायक होगा और अंततः हममें यह विश्वास दृढ़ करेगा कि प्रकृति और समग्र जीव जगत की रक्षा के साथ ही हमारा अपना अस्तित्व भी जुड़ा है। 'स्काई इज द लिमिट' वाला विज्ञापन बकवास है। आदमी धरती से बंधा है और वह तभी तक जीवित रहेगा जब तक यह बंधन कायम है।

खेती ही जीवन का आधार हो सकती है। कृषि छोटी व सहयोगी होगी। यह एक सोची-समझी बाध्यता होनी चाहिए, नहीं तो हम उन पुराने दिनों की तरफ लौट सकते हैं जब गुलामों व कृषकों का सहारा ले विशाल साम्राज्य कायम हुए।

समाज में सब कुछ अनियंत्रित नहीं होता। काफी कुछ मूल्यों के आधार पर मनुष्यों की संस्कृति द्वारा निर्धारित होता है। दस हजार साल के इतिहास का सबक हमें ऐसे समाज के सांस्कृतिक निर्धारण में सहायक होगा और अंततः हममें यह विश्वास दृढ़ करेगा कि प्रकृति और समग्र जीव जगत की रक्षा के साथ ही हमारा अपना अस्तित्व भी जुड़ा है। 'स्काई इज द लिमिट' वाला विज्ञापन बकवास है। आदमी धरती से बंधा है और वह तभी तक जीवित रहेगा जब तक यह बंधन कायम है।

*(महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के पंद्रहवें स्थापना दिवस 29 दिसंबर, 2012 पर आयोजित कार्यक्रम का उद्घाटन भाषण)*

# बढ़ती नारी चेतना से निकली रपट

सत्येंद्र रंजन

दिल्ली की सामूहिक बलात्कार की घटना के बाद बनी वर्मा समिति की रपट कई मायनों में महत्वपूर्ण और संतुलित है। लेकिन इसकी मुख्य सिफारिशों को नजरअंदाज करके सरकार ने जल्दबाजी में जो अध्यादेश जारी किया, उससे सरकार की मंशा पर सवाल खड़े होते हैं।

सत्येंद्र रंजन वरिष्ठ पत्रकार एवं लेखक हैं।

पता  
डी-001, जनसत्ता अपार्टमेंट सेक्टर-9, वसुंधरा, गाजियाबाद (उप्र)- 201012

फोन 09811999269

satyendra.ranjan@gmail.com

दिल्ली में सोलह दिसंबर की सामूहिक बलात्कार की घटना के बाद जो अद्भुत स्वतःस्फूर्त प्रतिरोध उठा, उसमें नवयुवतियों के हाथ में दिखे अनेक प्लेकार्डों में जिस संदेश ने सबसे ज्यादा ध्यान खींचा वो यही था कि अपने शरीर पर हक हमारा है। यह सचमुच भारतीय नारी की चेतना के एक नए स्तर पर पहुंचने की अभिव्यक्ति थी। महिलाओं ने भारत में संभवतः पहली बार इतने पुरजोर और बेलाग ढंग से कहा कि उनके जीवन पर पुरुष नियंत्रण और बलात्कार की संस्कृति अब उन्हें मंजूर नहीं है। सोलह दिसंबर की बर्बर घटना के बाद हुए प्रतिरोध में अनेक धाराएं थीं। 'फांसी दो' के नारों के साथ त्वरित न्याय की प्रतिशोध आधारित रुढ़िवादी मानसिकता भी वहां व्यक्त हुई। स्त्री को मात्र शरीर मानने की सोच भी जाहिर हुई, जिसकी मुखर अभिव्यक्ति लोकसभा में विपक्ष की नेता सुषमा स्वराज के इस बयान में हुई कि बलात्कार पीड़िता अब जीवित लाश के रूप में ही जिंदा रहेगी। (हालांकि बाद में उस तेइस वर्षीय छात्रा की मृत्यु हो गई।) मोहन भागवत, आसाराम बापू, कैलाश विजयवर्गीय, अभिजित मुखर्जी, अबू आजमी और उन जैसे अनेक लोगों की जुबान बड़ी सहजता और स्वभाविक ढंग से फिसली। उन्होंने ये जताया कि कैसे आज भी वह सोच बड़े पैमाने पर व्याप्त है, जो स्त्रियों को पुरुष की सेवक बनाए रखने, बलात्कार का दोष खुद स्त्रियों के ही रहन-सहन या उनकी आजाद-ख्याली पर थोपने, उनकी लक्ष्मण रेखा तय करने, या अगर एक वाक्य में कहें तो उन्हें पुरुष वर्चस्व का गुलाम बनाए रखने पर आमादा है।

सोलह दिसंबर की घटना के बाद महिलाओं की सुरक्षा के बारे में सुझाव देने के लिए बनाई गई वर्मा समिति की सिफारिशों को इस संदर्भ में रखते हुए ही देखा जाना चाहिए। सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व प्रधान न्यायाधीश न्यायमूर्ति जे.एस. वर्मा, हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय की पूर्व मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति लीला सेठ और पूर्व महाधिवक्ता जनरल गोपाल सुब्रह्मण्यम की इस समिति ने अपनी रिपोर्ट का श्रेय उन नौजवानों को दिया है, जिनके साहसी प्रतिरोध के कारण यह कमेटी बनी और यह रिपोर्ट तैयार हो सकी। लेकिन इस बात का श्रेय समिति को ही है कि उसने अपनी रिपोर्ट को प्रतिरोध की प्रगतिशील धारा द्वारा उठाए गए मुद्दों के इर्द-गिर्द तैयार किया। उसने अपनी अनुशासनात्मक न्याय की मानवीय और आधुनिक धारणा के दायरे में प्रस्तुत की। उसने एक महीने की निर्धारित समय सीमा के भीतर महिलाओं की सुरक्षा से संबंधित गंभीर एवं व्यापक प्रश्न पर उचित संदर्भों में विचार करते हुए ऐसी रिपोर्ट पेश की, जिसे कुछ महिला अधिकार कार्यकर्ताओं ने महिला स्वतंत्रता एवं सुरक्षा का घोषणापत्र कहा है। समय सीमा की बात इसलिए अहम है, क्योंकि यह संभवतः किसी भी मुद्दे पर बनी किसी कमेटी की पहली रिपोर्ट है, जो उस घटना को लेकर बने माहौल के दौरान ही सामने आ गई।

इस रिपोर्ट की विशेषता यह है कि इसमें यौन हिंसा या यौन उत्पीड़न को व्यापक सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों के ढांचे में रख कर देखा गया है। समिति ने प्रशासन, कानून, राजनीति और सामाजिक नजरिए की

समग्रता में इस प्रश्न पर विचार किया। उसने पितृ-सत्तात्मक व्यवस्था में स्त्रियों की लाचारी को जड़ में रखते हुए इस समस्या को देखा। वर्मा समिति ने अपनी रिपोर्ट को सिर्फ कुछ कानूनी प्रावधानों में हेर-फेर तक सीमित नहीं रखा, बल्कि बलात्कार या महिलाओं की असुरक्षा के प्रश्न को पितृ-सत्तात्मक संस्कृति के व्यापक दायरे में रखकर देखा। उसने महिलाओं पर हिंसा के सवाल को संविधान से मिले मूलभूत अधिकारों के उल्लंघन के संदर्भ में रखा, जिससे ऐसी घटनाओं में सरकारों की जवाबदेही तय होने की गुंजाइश बनती है। कहा जा सकता है कि महिला अधिकार आंदोलन जिन मुद्दों को लेकर दशकों से संघर्ष करता रहा, उनमें से अनेक को अपनी रिपोर्ट में शामिल कर वर्मा समिति ने उन्हें एक सरकारी दस्तावेज में जगह दिला दी।

### बलात्कार की व्यापक परिभाषा

मसलन, वर्मा समिति ने बलात्कार की परिभाषा फिर से तय करने का सुझाव दिया है। अभी स्त्री के यौनांग के उल्लंघन के बाद ही बलात्कार हुआ माना जाता है। समिति ने उस स्थिति से पहले स्त्री पर हुए यौन आक्रमण को बलात्कार मानते ऐसी घटनाओं पर भी इस इल्जाम में मुकदमा चलाने की सलाह दी है। साथ ही उसने सक्रिय प्रतिरोध ना होने का मतलब यौन संबंध के लिए सहमति समझने की मान्यता खत्म करने की सिफारिश की है। अभी आरोपी पक्ष यह साबित कर बच निकलता है कि पीड़ित स्त्री अगर प्रतिरोध करती, तो उसके कुछ निशान होते। चूंकि स्त्री ने प्रतिरोध नहीं किया, इसलिए उसकी सहमति थी। वर्मा समिति ने कहा है कि अगर स्त्री यह कहती है कि उसके साथ बलात्कार हुआ, तो उसे मानते हुए कानूनी कार्रवाई आगे बढ़ाई जानी चाहिए। वैवाहिक संबंध के भीतर बलात्कार की बात आज भी भारत में बहुत से लोगों को अटपटी लगती है। यह माना जाता है कि विवाह होने का मतलब पुरुष को हर हाल में यौन संबंध

बनाने का हक मिल जाना है। पत्नी को इनकार करने का हक है, इसे भारतीय विधि व्यवस्था में भी नहीं माना गया है। यह संभवतः पहला मौका है, जब न्यायविदों की एक समिति ने विवाह संबंध के भीतर के बलात्कार को अपराध बनाने की सिफारिश की है। समिति ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वैवाहिक या किसी अन्य रिश्ते को यौन संबंध के लिए महिला की सहमति का सबूत नहीं माना जा सकता। इसलिए अगर महिला यह इल्जाम लगाती है कि संबंध की आड़ में वह यौन हिंसा की शिकार है, तो यह कानून के तहत जुर्म होना चाहिए।

यह भी महत्वपूर्ण है कि वर्मा समिति ने अपनी सिफारिशों को संवैधानिक तथा कानून की मानवीय व्याख्या के दायरे में प्रस्तुत किया। नतीजतन, बलात्कारियों के लिए फांसी की सजा और नाबालिग अपराधी की श्रेणी तय करने के लिए उम्र सीमा घटाने की मांग उसने सिरे से खारिज कर दी।

समिति ने इस राय को मान्यता दी है कि समस्या सख्त कानून का अभाव नहीं, बल्कि कानूनों के अमल की खामियां हैं। लगभग तीन चौथाई बलात्कारी इसलिए बरी हो जाते हैं, क्योंकि अभियोग पक्ष आरोप साबित नहीं कर पाता। इसके पीछे जांच एजेंसी यानी पुलिस से लेकर



साभार: द हिन्दू

न्याय व्यवस्था तक में व्याप्त स्त्री विरोधी मानसिकता की भी बड़ी भूमिका होती है। इसलिए आवश्यकता इस मोर्चे पर सुधार की है। इसी क्रम में वर्मा समिति ने महिलाओं की सुरक्षा के प्रश्न को पुलिस सुधारों के मुद्दे से जोड़ा है।

फिर भी कमेटी ने बलात्कार के मुजरिमों के लिए सजा के प्रावधान को अधिक सख्त करने, बलात्कार की परिभाषा का विस्तार करने, बलात्कार पीड़िता की जांच के लिए स्पष्ट मेडिकल प्रोटोकॉल तैयार करने जैसे बेहद अहम सुझाव दिए हैं। दिल्ली

बलात्कार कांड के बाद अशांत क्षेत्रों में सुरक्षाकर्मियों के हाथों यौन उत्पीड़न का शिकार होने वाली महिलाओं का मुद्दा जोर-शोर से उठा। इस संबंध में वर्मा कमेटी ने यह बेहद अहम सिफारिश की है कि ऐसे आरोपों के घेरे में आने वाले सुरक्षाकर्मियों को सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) कानून का संरक्षण नहीं मिलना चाहिए— यानी उनके खिलाफ कार्रवाई सामान्य कानूनी प्रक्रिया के तहत होनी चाहिए। कमेटी ने राजनीतिक व्यवस्था में महिला विरोधी पूर्वाग्रहों के प्रश्न को भी अछूता नहीं छोड़ा। हालांकि यह सुझाव विवादास्पद है, लेकिन वर्मा कमेटी ने बलात्कार के आरोपियों के चुनाव लड़ने पर रोक की सिफारिश की है।

यह तथ्य है कि बलात्कार की अधिकतर घटनाएं ग्रामीण इलाकों में होती हैं, जहां दलित एवं अन्य कमजोर वर्गों की महिलाएं ताकतवर लोगों का शिकार होती हैं। दिहाड़ी और विस्थापित मजदूर स्त्रियों के लिए खतरा लगातार बना रहता है। अशांत क्षेत्रों में सुरक्षा बलों के हाथों बलात्कार की खबर अक्सर आती है। दिल्ली बलात्कार कांड के बाद ये तमाम मुद्दे उठे। इसलिए यह प्रशंसनीय है कि वर्मा समिति ने इन सब पर गौर किया। चूंकि उसने बलात्कार या यौन हिंसा को संवैधानिक अधिकारों के दायरे में रखा, अतः अगर उसकी सिफारिशों को स्वीकार किया जाए, तो पीड़ित महिलाओं को सुरक्षा देना स्वतः सरकार की जिम्मेदारी बन जाती है। समिति ने कहा है कि संसाधनों की कमी का बहाना बनाकर राज्य मौलिक अधिकारों की अनदेखी नहीं कर सकता। इसी तरह समिति ने बलात्कार के आरोपी सुरक्षाकर्मियों पर से सशस्त्र बल (विशेष शक्तियां) कानून की ढाल हटाने का सुझाव देकर अशांत क्षेत्रों की उत्पीड़ित महिलाओं की तरफ से लंबे समय से उठती मांग को आवाज दी है। दरअसल, समिति ने महिलाओं की सुरक्षा के विमर्श को पुलिस एवं चुनाव सुधारों की बहस तक ले जाकर इस चर्चा को समग्रता दी है।

मुमकिन है कि इसके बावजूद समिति की रिपोर्ट से महिला आंदोलन की कुछ अपेक्षाएं पूरी नहीं हुई हों। मसलन, कुछ कार्यकर्ताओं ने ध्यान दिलाया है कि बलात्कार पीड़ितों के पुनर्वास और मुआवजे के मुद्दे पर समिति ने ध्यान नहीं दिया, जबकि भारतीय समाज की हकीकत के बीच यह अहम मुद्दा है। सामाजिक मान्यता यह है कि बलात्कार के साथ ही महिला और उसके परिवार की इज्जत लुट जाती है। ऐसे में अक्सर परिवारों में पहली कोशिश इस जुर्म को छिपा लेने की होती है। यानी इंसफ की लड़ाई में पीड़िता को अनेक मौकों पर उसके परिवार का साथ भी नहीं मिलता। इसलिए यह मांग तार्किक है कि बलात्कार पीड़ित महिलाओं की आर्थिक मदद सरकार की जिम्मेदारी हो। महिला संगठनों ने एक दूसरी कमी की तरफ भी इशारा किया है। चूंकि बलात्कार

की सजा को उसमें बरती गई बर्बरता के आधार पर तय करने का विचार अब स्वीकार्य हो रहा है, इसलिए यह मांग भी तार्किक है कि जहां जातीय व्यवस्था या आर्थिक हैसियत के आधार पर दबंग लोग कमजोर, दलित, आदिवासी या ऐसे अन्य समूहों की

---

वर्मा कमेटी को इस बात श्रेय जरूर है कि उसने भारत में पहली बार यौन हिंसा के मुद्दे को "इज्जत" और "यौन शुचिता" की स्त्री विरोधी सोच से निकाल कर इसे आधुनिक, समतावादी और संवैधानिक संदर्भों में देखा है। इस तरह वर्मा समिति की रिपोर्ट दिल्ली बलात्कार कांड के बाद हुए प्रतिरोध के दौरान व्यक्त किए गए प्रगतिशील एवं मानवीय मूल्यों का मूर्त रूप बनी है।

---

महिलाओं के साथ जबरदस्ती करें, वैसे मामलों को अधिक संगीन बलात्कार की श्रेणी में रखा जाए और उसके लिए अधिक सजा का प्रावधान हो।

बहरहाल, वर्मा कमेटी को इस बात श्रेय जरूर है कि उसने भारत में पहली बार यौन हिंसा के मुद्दे को "इज्जत" और "यौन शुचिता" की स्त्री विरोधी सोच से निकाल कर इसे आधुनिक, समतावादी और संवैधानिक संदर्भों में देखा है। इस तरह वर्मा समिति की रिपोर्ट दिल्ली बलात्कार कांड के बाद हुए प्रतिरोध के दौरान व्यक्त किए गए प्रगतिशील एवं मानवीय मूल्यों का मूर्त रूप बनी है। प्रशासनिक कदमों, विधायी पहल, सामाजिक प्रयासों एवं सांस्कृतिक परिवर्तन की जरूरत को उसने स्पष्टता के साथ स्वर दिया। इस अर्थ में यह एक ऐतिहासिक दस्तावेज है।

## सरकार का रवैया

रिपोर्ट आने के बाद सामने आई जानकारीयों से यह आशंका गहरी हुई थी कि सरकार शायद इस रिपोर्ट की मूल भावना के मुताबिक कदम नहीं उठाए। इस आशंका की तब पुष्टि हो गई, जब सरकार ने अपनी सुविधा से कुछ सुझावों को चुन कर अध्यादेश जारी कर दिया। इसमें मुख्य रूप से जोर सजा के प्रावधानों को सख्त बनाने (फांसी देने) पर है, जबकि व्यवस्थागत सुधारों की सिफारिशों को सिरे से नजरअंदाज कर दिया गया है।

सरकार ने जो अध्यादेश जारी किया, उसमें सड़कों पर नारेबाजी में जाहिर हुई भावनाओं को तुष्ट करने की कोशिश अधिक नजर आती है। जस्टिस जेएस वर्मा समिति महिला अधिकार संगठनों की इस राय से सहमत थी कि समस्या सख्त कानूनों का अभाव नहीं, बल्कि जांच एवं अभियोजन व्यवस्था का महिला विरोधी सोच से संचालित होना है। इसीलिए समिति ने राय जताई कि मृत्युदंड का प्रावधान बलात्कार रोकने में सहायक नहीं होगा। मगर केंद्र सरकार ने बलात्कार के साथ हत्या या पीड़िता को मरणासन्न कर दिए जाने के मामलों में मृत्युदंड का प्रावधान करने का फैसला किया है। इस कदम के बावजूद सरकार के इरादे संदिग्ध नहीं होते अगर अध्यादेश के दायरे में सुरक्षाकर्मियों द्वारा बलात्कार की घटनाओं के बारे में वर्मा समिति की सिफारिशों को भी शामिल किया गया होता। या वैवाहिक बलात्कार संबंधी सिफारिशों पर गौर किया गया होता। या सरकार साथ ही पुलिस सुधारों की चर्चा भी शुरू करती। अपेक्षा यह थी कि सरकार अध्यादेश जैसी जल्दबाजी के बजाय इन गंभीर मुद्दों पर पहल की कार्ययोजना बनाती, जिसे संसद में पेश किया जाता। लेकिन बजट सत्र से सिर्फ तीन हफ्ते पहले अध्यादेश जारी कर दिया गया।

बहरहाल, सरकार इस मुद्दे पर गंभीर नहीं है, इसके संकेत वर्मा समिति के साथ उसके व्यवहार से ही मिल गया था। सरकार ने समिति को राजधानी के विज्ञान भवन में दो कमरे और एक कार देने के अलावा कोई और सुविधा उपलब्ध नहीं कराई। गृह मंत्री सुशील कुमार शिन्दे ने एक बार भी समिति से संपर्क या संवाद करने की जरूरत महसूस नहीं की। बहुत बाद में कांग्रेस प्रतिनिधिमंडल ने आधी रात को जस्टिस वर्मा के निवास पर जाकर जबरन अपना

सुझाव—पत्र सौंपने की जिद की, जिस पर बाद में सोनिया गांधी ने जस्टिस वर्मा को फोन कर अफसोस जताया। और आखिर में वर्मा कमेटी ने अपनी रिपोर्ट प्रधानमंत्री को सौंपने के लिए वक्त मांगा, जो उसे नहीं दिया गया। अंततः गृह मंत्रालय के एक संयुक्त सचिव ने सरकार की तरफ से वह रिपोर्ट ग्रहण की।

शायद सरकार ने सोचा था कि जैसा कि आम तौर पर होता है, समिति रिपोर्ट देने में काफी समय लगाएगी, तब तक तूफान गुजर जाएगा, मामला ठंडा पड़ जाएगा और सरकार इसके सुझावों व सिफारिशों को ठंडे बस्ते में डाल सकेगी। लेकिन वर्मा समिति की तत्परता ने उसकी इस उम्मीद पर पानी फेर दिया।

अंत में यह उल्लेखनीय है कि हाल के इस देशव्यापी स्वतःस्फूर्त प्रतिरोध ने समाज— खासकर मध्य वर्ग, मीडिया और शिक्षित तबकों— में स्त्री संबंधी मुद्दों पर वैसा खुलापन पैदा किया है, जो भारतीय समाज के लिए एक नई चीज है। इस प्रतिरोध से राजनीतिक व्यवस्था में हलचल हुई। यह उसका ही परिणाम है कि घटना के कुछ ही दिन बाद बलात्कार संबंधी मामलों के लिए फास्ट ट्रैक कोर्ट के गठन जैसे उपाय हुए। अन्य प्रशासनिक एवं न्यायिक उपाय करने पर भी सरकारें मजबूर हुईं। लेकिन इन सबसे कितना टिकाऊ लाभ होगा, यह इसी पर निर्भर करेगा कि लोग किस हद तक सचेत रहते हैं। अगर लोग सचेत रहे, तो वर्मा कमेटी की मूल सिफारिशों पर अमल भी जरूर हो सकेगा। यानी जो रिपोर्ट प्रतिरोध से निकली है, उसे प्रतिरोध की ताकत से ही लागू कराया जा सकता है।

बहरहाल, एक उपलब्धि के टिकाऊ होने की उम्मीद अवश्य की जा सकती है। वह है बलात्कार या स्त्री के यौन—व्यवहार से संबंधित मसलों से जुड़ी वर्जनाओं का टूटना। बलात्कार पीड़ित महिला "जीवित लाश" नहीं होती, स्त्री सिर्फ शरीर नहीं है इस बात को जितने जोरदार ढंग से कहा गया, और इन सब बातों पर परिवारों, मीडिया एवं सार्वजनिक स्थलों पर जो हिचक टूटी, वह नर—नारी समता की एक नई संस्कृति का आधार बनेगी, यह उम्मीद रखने के पर्याप्त कारण हैं। अंततः विमर्श की मुख्यधारा पितृ—सत्तात्मक व्यवस्था को चुनौती देने की दिशा में आगे बढ़ी। उसी की अभिव्यक्ति जस्टिस वर्मा समिति की रिपोर्ट में हुई। इससे भारत के सामाजिक विकास को बल मिला है। यह बहुत बड़ी उपलब्धि है।

# एक शिक्षिका की यातना गाथा

महिलाओं पर अत्याचारों में एक हिस्सा पुलिस और फौजी बलों द्वारा किए गए अत्याचारों का भी है, जिसे वर्मा समिति ने भी रेखांकित किया है। छत्तीसगढ़ की इस आदिवासी छात्रावास अधीक्षिका को नक्सली बताकर जेल में डाल रखा है। उस पर पुलिस अधीक्षक की उपस्थिति में अमानवीय अत्याचार किए गए। हद यह भी है कि उसी पुलिस अधीक्षक को गणतंत्र दिवस पर राष्ट्रपति का शौर्य पदक दिया गया।

यह रपट 'चौनिक हिंसा और सरकारी दमन के खिलाफ महिलाएं' नामक महिला संगठनों व कार्यकर्ताओं के मंच ने तैयार की है।

## सोनी सोढ़ी कौन है ?

सोनी सोढ़ी एक आदिवासी शिक्षिका है जो दंतेवाड़ा जिले के ग्राम जबेली में शासन द्वारा संचालित आदिवासी बच्चों की आवासीय शाला की अधीक्षिका हैं। छत्तीसगढ़ के इस गृहयुद्ध प्रभावित जिले में यह शाला उन बिरली शालाओं में से थी जो सितंबर 2011 में जब तक छत्तीसगढ़ पुलिस ने सोनी सोढ़ी को अपना गांव छोड़ने के लिए विवश नहीं किया था, तब तक नियमित रूप से चल रही थी।

## छत्तीसगढ़ पुलिस सोनी सोढ़ी के पीछे क्यों पड़ी है ?

सोनी सोढ़ी को दंतेवाड़ा पुलिस एक साल से अधिक समय से प्रताड़ित कर रही है, क्योंकि उसने पुलिस के मुखबिर के रूप में कार्य करने से इंकार किया। वह लिंगाराम कोडोपी की बुआ भी है, जो एक युवा और स्पष्टवादी पत्रकार है। 2009 के मध्य में छत्तीसगढ़ पुलिस ने लिंगाराम को जबरन एसपीओ (सलवा जुडुम के तहत विशेष पुलिस अधिकारी) के रूप में नियुक्त करने का प्रयास किया था, जिसका विरोध करने पर पुलिस उसके पीछे लग गई। लिंगाराम को 9 सितंबर 2011 को गिरफ्तार कर लिया गया और उस पर विधि विरुद्ध क्रियाकलाप अधिनियम सहित कई दमनकारी धाराओं के अंतर्गत मुकदमा चलाया जा रहा है। सोनी सोढ़ी पर आरोप है कि उसने माओवादियों के द्वारा एस्सार कंपनी को दिए जा रहे घूस की रकम के लिए बिचौलिये का काम किया। यह अलग बात है कि घूस देने के लिए जिम्मेदार एस्सार के प्रबंधक वर्मा और ठेकेदार बी. के. लाला को इस प्रकरण में जमानत

मिल गई है। सोनी सोढ़ी और लिंगाराम दोनों के विरुद्ध लगाए गए आरोप झूठे और राजनैतिक द्वेष भावना से प्रेरित हैं। एक पत्रकार के रूप में लिंगाराम ने पुलिस अत्याचारों के मजबूत दस्तावेजी सबूत प्राप्त कर लिए थे, जिसे छत्तीसगढ़ पुलिस झूठे मुकदमे दायर करके दबाना चाहती थी।

## सोनी सोढ़ी भागकर दिल्ली क्यों गई ?

जब सोनी सोढ़ी के भतीजे लिंगाराम कोडोपी को एस्सार मामले में छत्तीसगढ़ पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया, तब यह समझ कर कि सोनी के पास कुछ महत्वपूर्ण सबूत उपलब्ध हैं, उस पर हमला करने की कोशिश की गई। अपनी जान बचाने के लिए, कानूनी मदद मांगने के लिए और पुलिस अत्याचारों का पर्दाफाश करने के लिए सोनी सोढ़ी भाग कर दिल्ली चली गई।

## सोढ़ी की जान को क्या खतरा है ?

सोनी सोढ़ी उच्चतम न्यायालय में अपनी याचिका दायर कर पाती इसके पहले ही 4 अक्टूबर 2011 को उसे दिल्ली में गिरफ्तार कर लिया गया। चूंकि उसने दिल्ली में मीडिया के सामने पुलिस अत्याचारों को उजागर किया था, इसलिए उसने साकेत (दिल्ली) जिला न्यायालय के अतिरिक्त मुख्य मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट और दिल्ली उच्च न्यायालय से भी प्रार्थना की कि उसे सुप्रीम कोर्ट में याचिका दायर करने तक छत्तीसगढ़ पुलिस के हवाले न किया जाए। इसके बावजूद, न्यायालयों ने उसे छत्तीसगढ़ पुलिस की हिरासत में सौंप दिया, हालांकि पुलिस को स्पष्ट निर्देश दिए कि वे उसकी सुरक्षा का ध्यान रखें और दिल्ली उच्च न्यायालय के समक्ष

इस बाबत एक रिपोर्ट प्रस्तुत करें।

परंतु न्यायालयों के इन निर्देशों की उद्दंड अवमानना करते हुए, छत्तीसगढ़ पुलिस ने सोनी सोढ़ी को अपनी हिरासत में रखकर दो दिन तक बुरी तरह प्रताड़ित किया। आज, जब इस प्रताड़ना के सबूत मिले हैं, तो उस पर अपने आरोप वापस लेने के लिए लगातार दबाव डाला जा रहा है। उसके परिवार को छत्तीसगढ़ पुलिस सता रही है और सोनी सोढ़ी से संपर्क करने नहीं दे रही है। उसके भतीजे लिंगाराम कोडोपी पर अतिरिक्त मुकदमे थोपे जा रहे हैं, उसके भाई पर गिरफ्तारी का खतरा बना हुआ है और उसके पिता को नक्सलियों के हमले की वजह से जो मुआवजा राशि दी जाने वाली थी, उसको भी नहीं दिया गया।

### सोनी सोढ़ी को पुलिस प्रताड़ना का क्या सबूत है?

सोनी सोढ़ी की हिरासती प्रताड़ना की बात पहली बार तब प्रकाश में आई जब उसे दो दिन की पुलिस हिरासत के बाद दंतेवाड़ा मजिस्ट्रेट के समक्ष प्रस्तुत किया गया। सोनी, जो कि 8 अक्टूबर को, पुलिस हिरासत में भेजे जाने के समय बिल्कुल स्वस्थ हालत में थी, 10 अक्टूबर को इतनी खराब स्थिति में हो गई कि वह पुलिस वेन से उतर कर न्यायालय के कक्ष में जाने की हालत में नहीं थी। उसका बयान न्यायालय के एक बाबू द्वारा लिया गया। मजिस्ट्रेट ने बिना उसे देखे ही आदेश पारित कर दिया, जो विधि विरुद्ध था। पुलिस ने कहा कि वह बाथरूम में फिसलने से गिर गई है और उसके सिर में चोट आई है। जिला अस्पताल में उसका इलाज करने वाले डाक्टर ने कहा कि उसे बेहोशी की हालत में लाया गया और एक्सरे में उसके सिर और पीठ पर चोटें दिखी और उंगलियों पर काले निशान दिखे, जो उसको बिजली के झटके दिए जाने की पुष्टि करते हैं। एक वीडियो क्लिप में सोनी को अस्पताल में छटपटाते हुए दिखाया है।

शुरू में सोनी ने भी स्वयं कहा था कि वह बाथरूम में गिर गई थी। बाद में यह मालूम चला कि

पुलिस ने उसे धमकी दी थी कि यदि वह अपनी प्रताड़ना की बात बताएगी, तो उसके भाई को, जो उसके तीनों बच्चों का एकमात्र संरक्षक था, गिरफ्तार कर लिया जाएगा।

इसके बाद, सोनी ने उच्चतम न्यायालय को लिए गए पत्र और अपने रिश्तेदारों से बातचीत में, स्पष्ट रूप से आरोप लगाया है कि 8-9 अक्टूबर की मध्यरात्रि के आसपास उसे दंतेवाड़ा थाना के लाकअप से निकालकर पुलिस अधीक्षक अंकित गर्ग के कमरे में ले जाया गया। वहां उसे निर्वस्त्र कर बिजली के झटके दिए गए। अगली सुबह उसके पूरे शरीर, गर्दन व रीढ़ में दर्द था और पेडू में तीव्र दर्द था।

सोनी सोढ़ी की ओर से उच्चतम न्यायालय में दायर एक याचिका में, एक तीन सदस्यीय पीठ ने यह टिप्पणी की कि सोनी की चोटें इतनी साधारण नहीं प्रतीत हो रही थी जितना शासन दावा कर रहा था। न्यायालय ने सोनी सोढ़ी की नील रतन सरकार मेडिकल कालेज हास्पिटल, कोलकाता में स्वतंत्र मेडिकल जांच का निर्देश दिया। 25 नवंबर 2011 को प्रस्तुत रिपोर्ट के अनुसार सोनी के गुप्तांगों में, काफी गहराई में, तीन पत्थर

पाए गए जो कि उसके पेडू के दर्द के प्राथमिक कारण रहे होंगे। एम.आर.आई. स्कैन में भी उसकी रीढ़ पर "एनुलर टेयर्स" (गोलाकार चोट के चिन्ह) दिखाई पड़ते हैं।

### छत्तीसगढ़ शासन की प्रतिक्रिया क्या रही है?

हिरासती प्रताड़ना के स्पष्ट सबूतों के बाद भी, छत्तीसगढ़ शासन आरोपियों के विरुद्ध कार्रवाई करने की जगह, उन्हें सक्रिय रूप से संरक्षण दे रहा है। अभी तक किसी भी आरोपी पुलिस अधिकारी के विरुद्ध कोई भी कदम नहीं लिया गया है। यहां तक कि आरक्षक मानकर — जिसका स्टिंग आपरेशन तहलका पत्रिका ने किया था और जिसने स्वीकार किया है कि सोनी सोढ़ी और लिंगाराम कोडोपी के खिलाफ फर्जी मुकदमे बनाए गए हैं — के खिलाफ भी





कोई कार्रवाई नहीं हुई है। न ही पुलिस अधीक्षक अंकित गर्ग पर, जिसकी हिरासत में सोनी सोढ़ी पर यौन प्रताड़ना सहित अमानवीय व्यवहार किया गया, किसी किस्म की कार्रवाई हुई है। सबसे आश्चर्यजनक है कि सोनी सोढ़ी द्वारा मुख्य आरोपी बताए गए पुलिस अधीक्षक अंकित गर्ग को 62वें गणतंत्र दिवस के अवसर पर छत्तीसगढ़ शासन की सिफारिश पर राष्ट्रपति का शौर्य पदक प्रदान किया गया।

## सोढ़ी को जेल में कैसे सताया जा रहा है ?

सोनी सोढ़ी अक्टूबर 2011 में पुलिस प्रताड़ना के तत्काल बाद जेल में प्रविष्ट हुई। वह न चल सकती थी और न खड़ी हो सकती थी, स्पष्ट था कि वह चोटग्रस्त थी, इसके बावजूद जेल में उसका कोई इलाज नहीं किया गया। उसी महीने उसे उच्चतम न्यायालय के निर्देशानुसार कोलकाता के एन.आर.एस. अस्पताल भेजा गया और वहां के मेडिकल बोर्ड ने उसके लिए दवाइयां बताई और कुछ दिनों के बाद पुनः जांच की सिफारिश की। परंतु छत्तीसगढ़ लौटने के बाद, जेल अधिकारियों ने न तो दवाइयों को जारी रखा, न ही सिफारिश के अनुसार पुनः जांच करवाई। नतीजन, जानबूझकर की लापरवाही के कारण सोनी सोढ़ी के स्वास्थ्य की स्थिति जेल में बिगड़ती चली गई। केवल 6 माह के बाद ही मई 2012 में सर्वोच्च न्यायालय के आदेश पर उसे राहत मिली और छत्तीसगढ़ शासन को निर्देश दिया कि नई दिल्ली के ऑल इंडिया इंस्टीट्यूट ऑफ मेडिकल साइंसेज में उसे इलाज के लिए लाया जाए।

हालांकि उसका स्वास्थ्य सुधर गया है, फिर भी सोनी सोढ़ी की समस्याओं का अंत नहीं हुआ है। उसके पत्रों के अनुसार जेल अधिकारी उसे निर्वस्त्र कर सर्च कर रहे थे और एक बार ऐसा 100 महिलाओं के सामने किया गया। सोनी सोढ़ी बताती हैं कि जो कैदी उससे दोस्ताना व्यवहार करते हैं, उन्हें भी सताया जाता है, इस प्रकार उसे अन्य कैदियों से अलग-थलग कर दिया गया है।

## क्या सोढ़ी नक्सलवादी है ? अपराधी है ?

सोनी सोढ़ी के खिलाफ कम से कम 8 झूठे मुकदमे हैं — जिनमें एक कांग्रेस नेता के घर पर नक्सली हमले से लेकर माओवादियों के विचौलिए

के रूप में काम करना तक शामिल हैं। ये सारे प्रकरण पिछले वर्ष दर्ज किए गए और हरेक में उसे फरार बताया जा रहा था। इन प्रकरणों में पुलिस के बयान संलग्न थे कि वे पूरे प्रयासों के बावजूद उसे गिरफ्तार नहीं कर पाए हैं।

परंतु इसे पूरे समय न केवल सोनी सोढ़ी अपनी हॉस्टल अधीक्षिका के कर्तव्यों का नियमित पालन कर रही थी, वह अपनी प्रताड़ना की शिकायत करने पुलिस अधिकारियों के पास भी गई थी और अपने पति के मुकदमे में भी बराबर कोर्ट जाती थी। यह भी समझना मुश्किल है कि यदि वह सचमुच में नक्सलवादी होती तो फिर नक्सली उसके पिता और चाचा के घरों को क्यों लूटते और जलाते ? उसके पिता को नक्सलियों ने पैर में गोली क्यों मारी होती और वह भी उन्हीं दिनों में जिन दिनों में पुलिस के आरोप के अनुसार खुद सोनी सोढ़ी की नक्सल गतिविधियों में भागीदारी थी ?

यदि सोनी सोढ़ी के विरुद्ध दाखिल किए गए आरोपपत्रों का सरसरी तौर पर अवलोकन भी किया जाए तो स्पष्ट होता है कि वे बनावटी हैं। अलग-अलग तिथियों पर घटित अलग-अलग तथाकथित अपराधों में दाखिल अलग-अलग आरोपपत्रों में उन्हीं गवाहों द्वारा हू-ब-हू एक सा बयान दिया गया है। इनमें से दो प्रकरणों में सोनी सोढ़ी बरी हो चुकी है। एक तीसरे महत्वपूर्ण प्रकरण में, जिसमें उसके पति अनिल और भतीजा लिंगाराम भी अभियुक्त हैं, मुख्य शिकायतकर्ता ने न्यायालय में इनमें से किसी का भी घटना में संलिप्त होना नहीं बताया है।

इसके बाद भी, पांच प्रकरण और बचे हैं, और मुकदमों की धीमी गति को देखते हुए इन सबके निर्णय तक पहुंचने और सोनी सोढ़ी के दोषमुक्त हो पाने में काफी समय लग सकता है। जिस छत्तीसगढ़ पुलिस ने बड़ी मुस्तैदी से उसे दिल्ली में पकड़ा और साकेत के न्यायालय में बड़ा जोर देकर कहा कि कई गंभीर प्रकरणों पर त्वरित कार्रवाई के लिए सोनी सोढ़ी की उपस्थिति बहुत आवश्यक है, उसी पुलिस ने अभी तक दो प्रकरणों में उसकी गिरफ्तारी भी नहीं दिखाई है और जेल में एक साल रहने के बाद भी उसे न्यायालय के दस्तावेजों में फरार होना बताया गया है। यह स्पष्ट है कि पुलिस इन प्रकरणों के बहाने सोनी सोढ़ी को लंबे समय तक जेल में रखना चाहती है और इन्हीं सब तौर-तरीकों से उसके बरी होने और रिहा होने में देरी हो रही है।

# महाराष्ट्र का सिंचाई घोटाला

श्रीपाद धर्माधिकारी

**महाराष्ट्र में सिंचाई योजनाओं में बड़े घोटाले पिछले दिनों चर्चा में रहे। लेकिन महाराष्ट्र के किसानों का पानी तो पहले ही लुट चुका है। सिंचाई के लिए आरक्षित पानी को बड़े पैमाने पर उद्योगों को दिया जा रहा है। एक तथ्यपरक पड़ताल।**

इंजीनियर की शिक्षा प्राप्त श्रीपाद धर्माधिकारी नर्मदा बचाओ आंदोलन में रहे। अभी मंथन अध्ययन केंद्र, बड़वानी से जुड़े हैं। पानी, बांध और विकास के सवालों पर अध्ययन करते हैं। भाखरा नांगल बांध पर उनकी पुस्तक काफी चर्चित रही।

पता:  
विट्ठलवाड़ी, पोस्ट  
पौड़, तालुका मुलशी,  
जिला पुणे, महाराष्ट्र  
412108  
फ़ोन:  
09552526472

manthan.shripad  
@gmail.com

पिछले साल का उत्तरार्ध महाराष्ट्र की राजनीति में काफी गरम रहा। सिंचाई योजनाओं में घोटाले और भ्रष्टाचार के गंभीर आरोप जल संसाधन विभाग पर लगे। उपमुख्यमंत्री अजित पवार के इस्तीफे और वापसी का नाटक हुआ। जले पर नमक छिड़कने की भूमिका राज्य सरकार की ही सालाना आर्थिक सर्वेक्षण रपट ने निभाई। इस रपट से पता चला कि पिछले दस सालों में राज्य के सिंचित क्षेत्र में केवल 0.1 फीसदी बढ़ोतरी हुई। यह तब हुआ जब इसी अवधि में प्रधानमंत्री ने विदर्भ के किसानों के लिए विशेष पैकेज दिया, जिसमें सिंचाई योजनाओं का प्रमुख स्थान था। इस रपट से इस सवाल को बल मिला कि इन दस सालों में महाराष्ट्र में सिंचाई की मद में जो करीब 70,000 करोड़ रुपये खर्च हुए थे, वो कहाँ गए। माहौल इतना गरम हुआ कि मुख्यमंत्री को सिंचाई हालत पर श्वेतपत्र निकालने की घोषणा करनी पड़ी। पंद्रह दिन में निकलने वाला श्वेतपत्र कई महीनों बाद नवंबर के अंत में निकला। इस श्वेतपत्र का विश्लेषण इस लेख का मकसद नहीं है। लेकिन इसमें सिंचाई में कमी के जो कारण बताए गए हैं, उनमें से एक महत्वपूर्ण कारण की चर्चा यहां की गई है।

श्वेतपत्र से मालूम चलता है कि पिछले दस सालों में राज्य में सिंचाई के लिये आबंटित पानी में से करीब 189.6 करोड़ घनमीटर पानी गैर-सिंचाई उपयोगों की तरफ मोड़ा गया। श्वेतपत्र के मुताबिक, इस पानी से 2.85 लाख हेक्टेयर खेती सिंचित हो सकती थी। इसमें से बड़ी मात्रा में पानी उद्योगों के लिए लिया गया है, जिनमें कोयला चलित

बिजली कारखाने प्रमुख हैं। हालांकि गैर-सिंचाई उपयोगों में शहरों के लिए भी बड़ी मात्रा में पानी लिया गया है और इसे पेयजल के नाम से जायज ठहराया है। परंतु शहरों में इस्तेमाल होने वाला सारा पानी पीने या घरेलू उपयोग का नहीं होता। इसका एक हिस्सा व्यापारिक उपयोग में जाता है, जैसे कि मॉल, बड़ी होटलें आदि। शहर बनाम गांव का एक सवाल भी यहां आता है।

हमारे देश में पानी के उपयोग की प्राथमिकताएं तय की गई हैं। इसमें आमतौर पर पहले नंबर पर पेयजल, दूसरे नंबर पर सिंचाई और तीसरे नंबर पर उद्योगों को रखा जाता है। हर राज्य की अपनी जलनीति होती है, जिसमें यह वरीयता क्रम स्पष्ट किया जाता है। इसके बावजूद हर राज्य में बुनियादी जरूरतों को नजरअंदाज करके उद्योगों को और बड़े व्यापारिक प्रतिष्ठानों को पानी दिया जाता है। लेकिन महाराष्ट्र में तो इसे नीति का ही हिस्सा बना दिया गया। राज्य की 2003 की जल नीति में पानी के उपयोग की प्राथमिकताओं में पेयजल के बाद उद्योगों को रखा गया और खेती का नंबर उसके बाद कर दिया गया।

इस नीति-परिवर्तन के चलते बड़े पैमाने पर सिंचाई का पानी अन्य कामों के लिए मोड़ा गया। पुणे की 'प्रयास' संस्था ने 2011 में सूचना के अधिकार के तहत जानकारी निकाल कर यह पता करने की कोशिश की कि यह पानी कहाँ गया। श्वेतपत्र में बताए गए 189.6 करोड़ घन मीटर पानी में से 150 करोड़ की जानकारी उसे मिल पाई। इस जानकारी और प्रयास के विश्लेषण के मुताबिक 80.6 करोड़

घनमीटर यानी 54 फीसदी पानी उद्योगों को दिया गया। इसमें सबसे ज्यादा यानी 43.01 करोड़ घनमीटर पानी कोयला चालित ताप बिजलीघरों को दिया गया है। विडंबना तो यह है कि सिंचाई के लिए सुरक्षित पानी में से गैर-सिंचाई उपयोग के लिए मोड़े गए इस 150 करोड़ घनमीटर पानी में से 47.4 करोड़ घनमीटर विदर्भ इलाके का है, जो किसानों की आत्महत्या के कारण सुर्खियों में छाया रहा है।

इस तरह भ्रष्टाचार और घोटाले तो बाद की बात है, महाराष्ट्र के किसानों का पानी पहले ही लुट चुका था। ये फैसले जिस तरह हुए, वह भी विवाद का मुद्दा बन गया। 2005 में महाराष्ट्र ने 'महाराष्ट्र जल संसाधन नियामक प्राधिकरण विधेयक' पास करके इसी नाम के प्राधिकरण की स्थापना की थी। राज्य में पानी के किसी भी उपयोग के लिए आबंटन के अधिकार कानून द्वारा इस प्राधिकरण को दिए गए। इसके बावजूद कई सालों तक गैर-सिंचाई के पानी का यह आबंटन राज्य सरकार की एक उच्च अधिकार समिति करती रही। जब यह बड़ा मुद्दा बना, तो सरकार ने पहले एक अध्यादेश लाकर और बाद में कानून में संशोधन करके प्राधिकरण से यह अधिकार लेकर मंत्रीमंडल को सौंप दिए और इसे पिछली तारीख से लागू कर दिया। व्यापक विरोध का इतना असर जरूर हुआ कि सरकार ने जलनीति में भी संशोधन किया तथा सिंचाई की वरीयता बदल कर उसे उद्योगों के ऊपर, दूसरे नंबर पर ले आई।

लेकिन यह मानना गलत होगा कि कागज पर प्राथमिकता के इस बदलाव से जमीनी हालात में कोई बदलाव होगा। दरअसल राज्य में बड़े पैमाने पर उद्योग प्रस्तावित हैं, खासकर ताप बिजली कारखाने और विशेष आर्थिक क्षेत्र (सेज)। इनमें से कई के साथ प्रदेश की बड़ी-बड़ी हस्तियों के हित जुड़े हुए हैं। सबसे गंभीर समस्या विदर्भ में ही दिखती है।

विदर्भ में जो कोयला चालित ताप बिजली कारखाने प्रस्तावित हैं, पर्यावरण मंत्रालय के पास मंजूरी हेतु विचाराधीन हैं या मंजूरी प्राप्त कर चुके हैं, उनकी कुल क्षमता 40,000 मेगावाट के करीब है। विदर्भ में अभी 5260 मेगावाट क्षमता के ताप बिजलीघर हैं। इससे अंदाजा लगाया जा सकता है कि कितने बड़े पैमाने पर नए बिजली कारखाने आने वाले हैं। इतनी मात्रा में अगर कोयला चालित बिजली कारखाने लगाए गए तो इनके लिए करीब 160 करोड़ घनमीटर

पानी की जरूरत होगी। यह मात्रा पूरे विदर्भ में एक साल (2009-10) में सिंचाई में इस्तमाल होने वाले पानी की मात्रा के बराबर है और इसमें ढाई लाख से ज्यादा हेक्टेयर जमीन सिंचित करने की क्षमता है। इस तरह, कागज पर भले ही अब सिंचाई को प्राथमिकता दी गई हो, ज्यादा संभावना यही है कि बड़े पैमाने पर उद्योगों और ताप बिजलीघरों की तरफ ही पानी मोड़ा जाएगा।

अमरावती जिले में सोफिया इंडिया बुल्स कंपनी के ताप बिजलीघर का वहां के किसान विरोध कर रहे हैं, क्योंकि उनका सिंचाई का पानी छिन जाएगा। उन्होंने कंपनी की पानी की पाईप लाईन रोक दी। कुछ साल पहले चंद्रपुर के 2450 मेगावाट के विशाल ताप बिजलीघर की कुछ इकाइयों को गर्मी के महीनों में बंद करना पड़ा, क्योंकि नदी में पानी नहीं बचा और जो थोड़ा पानी था, उसे पेयजल के लिए आरक्षित करना पड़ा। इस तरह के टकराव भविष्य में काफी बढ़ जाएंगे।

और यह तो केवल वह पानी है जो ये कारखाने सीधे उपयोग करेंगे। इसके अलावा जो पानी इन कारखानों से निकलने वाली राख और दूसरी गंदगी से प्रदूषित होगा, वह अलग है। इतने सारे कोयला चालित बिजली कारखाने विदर्भ में लगाने के पीछे तर्क यह है कि वहां कोयला बड़ी मात्रा में मौजूद हैं। पर कोयला खदानों का भी जल स्रोतों पर गंभीर असर पड़ता है। खास तौर पर भूजल के स्रोत तहस-नहस हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि हर खदान अपने आप में एक विशाल और बहुत गहरे कुएं की तरह है, जो आसपास का भूजल अपने अंदर खींच लेती है और भूजल व सतही जल के जल मार्ग भी मोड़-तोड़ देती है।

इसलिए ताप बिजलीघरों और अन्य उद्योगों की वजह से विदर्भ और महाराष्ट्र के दूसरे इलाकों में जल स्रोतों पर गंभीर असर पड़ने वाला है तथा खेती से छिनकर पानी उद्योगों की तरफ जाने वाला है। महाराष्ट्र पहले ही सूखे की समस्या, कर्ज में डूबती किसानी, किसानों की आत्महत्या और बेरोजगारी जूझ रहा है। पिछले पंद्रह बरसों में देश में सबसे ज्यादा किसानों की आत्महत्याएं महाराष्ट्र में हुई हैं। इसके बावजूद पानी की यह बंदरबांट और लूट आने वाले समय में हालात को और भयंकर बना सकती है। शायद राज्य में सिंचाई क्षेत्र का सबसे बड़ा घोटाला यही है।

# जलता हुआ तिब्बत

राधा भट्ट

**इन पंक्तियों के छपते-छपते 2009 से अभी तक आत्मदाह करने वाले तिब्बतियों की संख्या 100 तक पहुंच गई है। इन घटनाओं से क्षुब्ध होकर प्रसिद्ध गांधीवादी कार्यकर्ता राधा भट्ट ने सभी देशों के राष्ट्रपतियों और प्रधानमंत्रियों को एक लंबा पत्र लिखा है। प्रस्तुत है पत्र के कुछ प्रमुख अंश।**

राधा भट्ट गांधी शांति प्रतिष्ठान की अध्यक्ष हैं और वरिष्ठ गांधीवादी कार्यकर्ता हैं।

पता:  
गांधी शांति प्रतिष्ठान,  
222-223, दीनदयाल  
उपाध्याय मार्ग, नई  
दिल्ली-110002  
फोन:  
011-23317493  
23237493

मैं आपका ध्यान तिब्बत में हो रही आत्मदाह की भयानक घटनाओं की तरफ खींचना चाहती हूँ। बिना किसी को नुकसान पहुंचाए अपने प्राणों को न्योछावर कर देने का यह दुखद सिलसिला पिछले कई महीनों से लगातार जारी है। अब तक 95 लोग अपनी जान दे चुके हैं। चीन में बाहर से निकलने वाली खबरों पर बेहद कड़ी निगरानी रखी जाती है इसलिए पूरी खबरें बाहर नहीं आ पा रही हैं। अपने प्राण होम कर देने की जो वजह सामने आ रही है वह एक-सी है: तिब्बत की आजादी और परम पावन दलाईलामा की घर वापसी की मांग।

पिछले दौर में संसार के नक्शे में कई बदलाव हुए हैं। पड़ोसी राज्य नेपाल और भूटान में राजशाही का अंत हुआ है और लोकतंत्र की वापसी हुई है। उधर सोवियत रूस और चेकोस्लोवाकिया जैसे देशों में स्वतंत्र हुए नए राज्यों का उदय हुआ है। तिब्बत के लोगों को इस सबसे प्रेरणा मिली है। उन्हें गरिमा के साथ जीने का अवसर और बुनियादी मानव अधिकार प्राप्त करने की आशा की दिशा में बढ़ने का बल मिला है। इसी से पता चलता है कि अपना विरोध जताने के लिए तिब्बत के लोग आत्मदाह जैसे कठोर कदम उठाने की जरूरत क्यों महसूस करते हैं। अपनी हताशा और निराशा को जाहिर करने का दूसरा कोई जरिया उन्हें नजर नहीं आ रहा है।

दुर्भाग्य से चीन की सरकार इस दुखद प्रसंग में किसी भी तरह का सकारात्मक माहौल नहीं चाहती। आत्मदाह

के इस भयानक सिलसिले को रोकने के लिए मेरा आपसे निवेदन है कि आप स्वयं चीन की सरकार से इस विषय पर संवाद स्थापित करें। उनके नुमाइंदों को इस बात के लिए तैयार किया जाए कि वे तिब्बत के लोगों की चिंताओं व कष्टों को शांति से सुने और उन पर कुछ सकारात्मक कदम उठाने का प्रयास करें।

इन दुखद घटनाओं से जुड़ी कुछ महत्वपूर्ण बातों की तरफ आपका ध्यान विशेष रूप से खींचना चाहती हूँ:

अब तक आत्मदाह करने वाले लोगों में 90 प्रतिशत युवा हैं। इनकी सभी की उम्र 30 वर्ष से नीचे है। इनमें से कोई भी युवा अपने आध्यात्मिक गुरु दलाई लामा से कभी नहीं मिला था और न उसने स्वतंत्र तिब्बत को देखा था। अलबत्ता जन्म से लेकर अपने दाह तक तो उन्हें आजाद तिब्बत के विचार और दलाई लामा के विरुद्ध लगातार चलने वाला साम्यवादी दुष्प्रचार रोजाना खुराक की तरह पिलाया गया था।

इन आत्मदाहों की कोई दो तिहाई घटनाएं उन इलाकों में हुई हैं, जिन्हें चीन तिब्बत का हिस्सा भी मानने से इंकार करता है। सन् 1951 में जब चीन ने तिब्बत का अधिग्रहण किया था, उस समय ये इलाके 'खाम' और 'आमदो' प्रांत में आते थे। सन् 1960 में तिब्बत के पुनर्गठन के बाद चीन ने इन इलाकों को युन्नान सीचुआ, क्यूंघई और गांजू में मिला लिया था। इस सबसे साफ होता है कि चीन तिब्बत की संप्रभुता और उसके अस्तित्व

को लेकर कितना नकारात्मक रहा है।

इतना ही नहीं पिछले कुछ सालों में तिब्बत में हान चीनियों को बाहर से लाकर बड़ी संख्या में बसाया गया है। इस नई आबादी के बीच तिब्बती अपने ही घर में पराए और अल्पसंख्यक होकर रह गए हैं।

इन सारी ओछी हरकतों के बावजूद तिब्बती लोगों ने आत्मदाह के माध्यम से अपने आप को ही भयंकर क्षति पहुंचाना तय किया, बजाय नई आबादी यानी हान चीनियों और पुलिस पर बम, चाकू, गोली चलाने के। ऐसी भी खबरें लगातार आती रही हैं कि चीन की पुलिस ने आत्मदाह कर रहे युवाओं को बचाने के बदले, उन पर लात-घूंसे चलाने तक का बेहद भद्दा काम किया है। कई मामलों में तो हान चीनियों ने आग में लिपटे सत्याग्रहियों को पत्थर तक मारने का काम किया है। आत्मदाह के ऐसे कई मामलों में उन युवाओं की जान बचाई जा सकती थी। लेकिन चीनी पुलिस ने ऐसे लोगों के तुरंत उपचार की कोई सुविधा भी उपलब्ध नहीं कराई।

आत्मदाह की ये दुखद घटनाएं कोई एक दिन का परिणाम नहीं है। यह तो एक औपनिवेशिक सत्ता द्वारा लंबे समय से जीने के अधिकार की उपेक्षा का परिणाम है। उपेक्षा इतनी कि अकेलेपन की गहराई तक पहुंच जाए!

तिब्बत की भीतरी हालत और उसके सारे पक्षों को देखकर ऐसा लगता है कि सही सोचने वाले हम कुछ लोगों ने व दुनिया के देशों ने अपनी नैतिक जिम्मेवारी ठीक से नहीं निभाई है। पहले तो हमने साम्राज्यवादी चीन के फार्मूले को तिब्बत के लिए ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। दूसरे हमने यह भी विश्वास कर लिया कि एक शक्तिशाली तानाशाह सरकार तिब्बत जैसे छोटे राष्ट्र की आजादी का सम्मान

करेगी। हमने तिब्बत को चीन से अलग रखने की कोई कोशिश नहीं की। हम अपने को इस भयानक अन्याय का साझीदार बनने से रोक सकते थे।

हमें पूरा यकीन है कि तिब्बत की समस्या केवल और केवल आपसी बातचीत के जरिए ही सुलझाई जा सकती है। लिहाजा हमें दुनिया के मंच पर एक आम राय बनाने की जरूरत है। ऐसा करके हम तिब्बत की समस्या का शांतिपूर्ण हल ढूंढने के लिए चीन पर नैतिक दबाव बना सकते हैं। तिब्बत के विषय में आखिरी आवाज तिब्बत की ही होनी चाहिए, किसी और की नहीं।

महात्मा गांधी के अनुयायी होने के नाते हम लोग उचित और सार्थक प्रयासों में पूरा विश्वास रखते हैं। इसलिए हम आशा करते हैं कि महामहिम और आपकी सरकार के अन्य सम्मानीय सदस्य, और आपके देश के प्रतिष्ठित नागरिक सभी अपने तर्क चीन की सरकार से तिब्बत में सद्भावना पूर्ण माहौल बनाने के लिए कहेंगे। आप सबका ऐसा मिला जुला आग्रह तिब्बत के लोगों को उसकी आजादी और मानव अधिकार दिलाने में सहायक होगा।

हमारे लिए उन युवाओं को भूल जाना, जो जीवन के सबसे जरूरी अधिकार की मांग करते हुए आत्मदाह कर रहे हैं, कितना दुखद है। मानव सभ्यता के इतिहास में शायद ही अपने अधिकार को पाने के लिए आत्मदाह जितना भयानक विकल्प भी आया हो! तिब्बत के युवाओं के प्रति हमारी यह उपेक्षा, हमारा यह असहयोग दुर्भाग्य से उन हजारों लोगों और आंदोलनों को एक गलत संकेत देगा जो आज अपने अधिकार के लिए संघर्ष कर रहे हैं। आज हमारा यह विचित्र मौन उन्हें अपने रास्ते तक बदलने के लिए मजबूर कर सकता है। (सप्रेस)

## तिब्बती भाषा को खतम करने की कोशिश

“दुनिया के तिब्बतशास्त्रियों का समुदाय इस बात की गहरी चिंता जाहिर करना चाहता है कि तिब्बती भाषा व संस्कृति को दबाया जा रहा है। पिछले कुछ वर्षों से तिब्बती भाषाई इलाकों के स्कूलों में तिब्बती माध्यम की जगह चीनी भाषा को ले आया गया है। .....कई तिब्बतियों ने आत्मदाह करते वक्त तिब्बत की भाषा और संस्कृति को इज्जत देने की मांग करते हुए नारे लगाए। .....हम आपको याद दिलाना चाहते हैं कि चीनी भाषा के बाद तिब्बती भाषा दुनिया की उन प्राचीनतम भाषाओं में से एक है जिसका लगातार प्रयोग होता रहा है और इसने सैकड़ों भाषाओं के प्राचीन चीनी-तिब्बती भाषा परिवार के निर्माण में योगदान दिया है।”

(दुनिया के 57 तिब्बत विशेषज्ञों द्वारा चीन के नए राष्ट्रपति को लिखे गए पत्र से)

# गरीबों की जानलेवा बीमारी टीबी

रामप्रताप गुप्ता

**दुनिया में सबसे ज्यादा टीबी के रोगी भारत में हैं। ठंडे अमीर मुल्कों में ज्यादा टीबी नहीं होने से इस पर अनुसंधान में बहुत ज्यादा प्रगति नहीं हुई, और अभी भी बहुत कुछ करना बाकी है।**

सन् 1993 में तपेदिक याने टी.बी. को वैश्विक संकट की संज्ञा दी गई थी, तो उस समय ऐसी आशा बंधी थी कि इस पर नियंत्रण के लिए प्रभावी कदम उठाए जाएंगे। इस आशा के विपरीत सन् 2012 की विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट के अनुसार सन् 2011 में भी तपेदिक के रोगियों की संख्या 1 करोड़ 18 लाख और 1 करोड़ 55 लाख के मध्य थी। इस संख्या का अधिकांश भाग पिछड़े और विकासशील राष्ट्रों में स्थित है। विकसित राष्ट्र बढ़ते संपर्कों के कारण भले ही इससे पूर्ण मुक्ति न कर पाए हों, परंतु उन्होंने इस पर काफी हद तक नियंत्रण कर लिया है।

विश्व में तपेदिक के शिकार लोगों में भारत और चीन का हिस्सा काफी बड़ा है। इन दोनों राष्ट्रों में विश्व के 38 प्रतिशत रोगी पाए जाते हैं अर्थात् प्रत्येक 5 रोगियों में से 2 रोगी इनमें पाए जाते हैं। **भारत में विश्व के कुल रोगियों को 26 प्रतिशत और चीन में 12 प्रतिशत है।** इसी रिपोर्ट के अनुसार भारत में प्रति लाख आबादी में तपेदिक के रोगियों की संख्या 249 और 346 के बीच है, जबकि चीन में यह 104 और 119 के मध्य ही है। कुल मिलाकर भारत में तपेदिक के रोगियों की संख्या 31 लाख और 43 लाख के मध्य और चीन में 14 से 16 लाख के मध्य अनुमानित है। चीन ने गरीबी कम होने तथा बेहतर स्वास्थ्य के माध्यम से तपेदिक नियंत्रण में बेहतर सफलता प्राप्त की है। भारत के बारे में विश्व स्वास्थ्य संगठन का कहना है कि भारत के तपेदिक नियंत्रण में काफी सफलता प्राप्त करने के बावजूद इस दिशा में काफी कुछ करना शेष है। आज

भी चिकित्सा साध्य होने के बावजूद इस बीमारी से भारत में प्रति लाख आबादी पर 26 व्यक्ति प्रतिवर्ष अकाल मौत के शिकार होते हैं। तपेदिक अब विश्व में एक बड़ा संकट रहा हो या नहीं, भारत में गरीबों के लिए यह अभी भी बड़ी आपदा के समान ही है।

भारत में आज भी तपेदिक का प्रभाव काफी अधिक है, प्रतिवर्ष 18 लाख लोग इसका शिकार होते हैं। इनमें से छूत की तपेदिक के शिकार लोगों की संख्या 8 लाख है। इनमें से 3.70 लाख लोग अकाल मौत के शिकार होते हैं। इतनी बड़ी संख्या में लोगों के तपेदिक से ग्रसित होने से देश को प्रतिवर्ष 10 करोड़ श्रम-दिवसों की हानि उठानी पड़ती है जो 15,000 करोड़ रु. डालर प्रतिवर्ष की हानि के बराबर है। साथ ही देश में गरीबी और कुपोषण की समस्या भी इसके कारण और अधिक उग्र हो जाती है।

चिकित्सा विशेषज्ञों के अनुसार एड्स और एचआईवी के शिकार लोगों को तपेदिक होने पर उसकी चिकित्सा काफी कठिन हो जाती है। तपेदिक रोगियों में एड्स एचआईवी के भी शिकार लोगों का प्रतिशत भारत में 6.5 और चीन में 2.3 प्रतिशत है। इंडियन जर्नल ऑफ मेडिकल रिसर्च के एक संपादकीय के अनुसार भारत में इन वर्षों में तपेदिक के नए रोगियों के मिलने की प्रक्रिया धीमी पड़ गई है, इसके बावजूद विश्व के नए रोगियों में भारत का हिस्सा 25 प्रतिशत है।

भारत में तपेदिक के अत्यधिक प्रभाव के कारण विश्व स्वास्थ्य संगठन की वार्षिक

डा. रामप्रताप गुप्ता  
अवकाश प्राप्त  
प्रोफेसर और लेखक  
है। रामपुरा में टीबी  
मरीजों के लिए चलाए  
गए गैर-सरकारी  
कार्यक्रम से लंबे  
समय तक जुड़े रहे  
है।

पता:  
3, राजस्व कालोनी,  
उज्जैन (म.प्र.)

फोन  
07342530648

बैठकों में इसे बड़ी शर्मिंदगी का सामना करना पड़ता था, अतः सरकार ने तपेदिक पर नियंत्रण हेतु संशोधित राष्ट्रीय तपेदिक नियंत्रण कार्यक्रम शुरू किया है और अब सरकार की कोशिश है कि रोगी पर तपेदिक के आक्रमण के साथ ही उसकी चिकित्सा शुरू कर दी जाए। इस कार्यक्रम के माध्यम से तपेदिक पर नियंत्रण की दिशा में सफलता मिली है। निजी चिकित्सकों की इस कार्यक्रम में भागीदारी का अभाव इसकी बड़ी कमजोरी है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण सन् 2004-05 के अनुसार देश के 80 प्रतिशत रोगी प्राथमिक तौर पर निजी चिकित्सकों के पास ही जाते हैं और अब तक निजी चिकित्सकों की विशाल संख्या में से केवल 30 हजार चिकित्सकों तथा 15 कोरपोरेट अस्पतालों की भागीदारी ही संभव हो सकी है। निजी चिकित्सकों के लिए यह सुनिश्चित कर पाना कि तपेदिक का मरीज चिकित्सा का 6 माह का पूरा कोर्स करेगा या नहीं, प्रायः संभव नहीं होता और इस वजह से अनेक गंभीर समस्याएं पैदा होती हैं।

जब रोगी 2-3 माह तक तपेदिक की दवाएं ले लेता है तो उसका वजन बढ़ने लगता है, खांसी पर भी नियंत्रण हो जाता है।

तब मरीज को लगने लगता है कि वह स्वस्थ हो गया है और वह दवा लेना बंद कर देता है। फिर निजी चिकित्सक प्रायः अनावश्यक जांचें करवा कर, अनावश्यक दवाएं लिखकर उसकी जेब भी खाली कर देते हैं और मरीज के लिए दवाएं निरंतर लेना कठिन भी हो जाता है। परंतु आधा-अधूरा दवा कोर्स लेने से कुछ समय पश्चात् उसे फिर तपेदिक हो जाता है और साथ ही तपेदिक के कीटाणु भी इन दवाओं के प्रति प्रतिरोधक शक्ति विकसित कर लेते हैं। जब यह मरीज अन्य स्वस्थ परंतु कमजोर लोगों को छूत का शिकार बनाते हैं तो उसे भी दवा प्रतिरोधक तपेदिक हो जाती है। गुजरात और चेन्नई में जब सर्वे किया गया तो पता चला कि पूर्व में चिकित्सा लेने वाले मरीजों में 13 प्रतिशत मरीजों में और नए रोगियों में 1 से 3 प्रतिशत रोगियों में दवा प्रतिरोधी तपेदिक पाई गई। दवा प्रतिरोधी तपेदिक की चिकित्सा अत्यंत महंगी और लंबे समय तक चलती है जो रोगियों की क्षमता के बाहर होता है।

अब भारत सरकार तपेदिक की चिकित्सा की दिशा में विशेष रूप से सक्रिय हुई है। अब तक निजी चिकित्सक खून में सीरम की उपस्थिति के आधार पर तपेदिक की उपस्थिति का निर्णय लेते रहे हैं, परंतु यह जांच पूर्णरूपेण विश्वसनीय नहीं होती है और इससे अनेक तरह की तपेदिक की उपस्थिति का पता ही नहीं चलता है। अतः सरकार ने जून 2012 में इस पर प्रतिबंध लगा दिया है, परंतु प्रतिबंध के 6 माह बाद आज भी अनेक चिकित्सक इसी जांच पर निर्भर रहते हैं।

मरीजों द्वारा चिकित्सा का पूरा कोर्स नहीं करने तथा बीच में ही चिकित्सा बंद कर देने से उत्पन्न समस्याओं से मुक्ति पाने के उद्देश्य से सरकार ने 1993 में प्रायोगिक तौर पर कुछ जिलों में प्रत्यक्ष निरीक्षण में दवा देने जिसे संक्षेप में 'डोट्स' कहते हैं, शुरू किया था, जिसके अंतर्गत शिक्षक, ग्राम सेवक, पंचायत सदस्य आदि को

जिम्मेदारी सौंपी जाती है कि वे अपने सामने रोगी को दवा देवें। इन जिलों में इस कार्यक्रम के अच्छे परिणाम आने पर इस अब पूरे देश में लागू कर दिया है।

इस समय करीब डेढ़ लाख तपेदिक रोगी इस कार्यक्रम के अंतर्गत चिकित्सा ले रहे हैं। इस कार्यक्रम के अंतर्गत चिकित्सा ले रहे मरीजों में से 85 प्रतिशत मरीज इस जानलेवा बीमारी से मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं और दवा प्रतिरोधी तपेदिक के प्रसार पर भी रोक लगाने में मदद मिली है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के उष्ण कटिबंधीय बीमारियों की चिकित्सार्थ चलाए जा रहे प्रशिक्षण कार्यक्रम के प्रभारी का कथन है कि चिकित्सा सुनिश्चित करने के उद्देश्य से चलाए जा रहे डोट्स कार्यक्रम पर भारत सरकार निश्चित रूप से गर्व कर सकती है। अब तक इस कार्यक्रम के माध्यम से 26 लाख लोगों की जान बचाई गई है। हाल ही में प्रसारित विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट सन् 2012 में भी कहा है कि डोट्स के माध्यम से भारत को तपेदिक के फैलाव पर रोक लगाने में काफी मदद मिली है, परंतु साथ ही तपेदिक के पूर्ण उन्मूलन की दिशा में लंबी यात्रा शेष है।

सबसे बड़ी समस्या यह भी है कि हम आज भी यह नहीं जानते कि देश में तपेदिक के कितने मरीज हैं और उनमें से कितने चिकित्सा ले रहे हैं। चिकित्सा ले रहे मरीजों की ठीक-ठीक संख्या ज्ञात करने के उद्देश्य से सरकार ने तपेदिक को अधिसूचना के कानून के अंतर्गत शामिल कर

लिया है। इसके अंतर्गत निजी चिकित्सकों को उनसे चिकित्सा ले रहे मरीजों की संख्या के बारे में सरकार को सूचित करना पड़ता है। फिर भी इस समय देश में तपेदिक के कुल रोगियों की जानकारी के लिए एक व्यापक सर्वेक्षण के आवश्यकता है।

## टीबी के इलाज में दोहरे मानदंड

### डा. योगेश जैन

टीबी के बारे में किसी ने सही कहा है कि वह मौत की असली कप्तान है। टीबी के बारे में पहले नब्बे के दशक के मध्य में सरकार द्वारा बड़ा कार्यक्रम लिया गया। टीबी के इलाज के बारे में मुख्य समस्या यह है कि इसकी दवा लंबे समय तक लेना पड़ता है और थोड़ी तबियत सुधरने पर मरीज बीच में दवा लेना छोड़ देता है। इससे टीबी का रोगाणु प्रतिरोधक शक्ति विकसित कर लेता है और अब वह कई दवाईयों का प्रतिरोधक बनने लगा है। इसलिए 'डॉट्स' यानी डायरेक्टली ऑब्जर्वर्ड ट्रीटमेंट शार्ट कोर्स (मरीज को निगरानी में दवाई खिलाना) शुरू किया। फिर 2006 में 'डॉट्स प्लस' शुरू किया। इसमें कई दवाईयों को दिया जाता है। किंतु इसमें कुछ गंभीर कमियां हैं। ये कमियां महज क्रियान्वयन की चूक नहीं, बल्कि योजना और नीति की भी कमियां हैं।

1. मरीजों को सप्ताह में तीन बार दवाई दी जाती है। हम उन्हें पूरा इलाज क्यों नहीं दे सकते?
2. मरीजों में टीबी रोगाणु के दवाई प्रतिरोध की जांच नहीं की जाती। इसलिए यह प्रतिरोध कितना व्यापक हुआ है, इसकी जानकारी भी नहीं है। रूस की जेलों में टीबी व्यापक रूप से फैल गया था, जिन्हें सिर्फ पहली वाली दवाई दी थी। दवा-प्रतिरोध की जांच नहीं की गई थी। नतीजा यह हुआ कि कई लोग मर गए और बड़ी संख्या में दवा-प्रतिरोधी टीबी फैल गया।
3. दवाई खाने की निगरानी में कमी है। परिवार के सदस्य को क्यों न इसके लिए नियुक्त किया जाता है? मरीजों को पूरी जानकारी व समझाईश भी नहीं दी जाती है।
4. मरीजों के लिए भोजन की मदद का प्रावधान नहीं है। टीबी के मरीज ज्यादातर गरीब, कमजोर और कुपोषित होते हैं। हैती और वियतनाम जैसे देश टीबी की दवाईयों के साथ भोजन की मदद दे सकते हैं, तो हम क्यों नहीं दे सकते?

मेरा सवाल है कि क्या ऊपर जो लोग बैठे हैं, उनके परिवार में किसी को टीबी होगा तो क्या वे इसी तरह इलाज कराएंगे? हम साधारण गरीब जनता के लिए और खुद के लिए अलग-अलग मानदंड क्यों अपना रहे हैं?

जन स्वास्थ्य सहयोग, गनियारी, जिला बिलासपुर,  
छत्तीसगढ़, फोन 09425530357



# क्या हम सभ्य हो रहे हैं

सतीश पेडणेकर

**स्टीवन पिंगर नामक पश्चिमी लेखक का मानना है कि आधुनिक दुनिया में हिंसा कम हुई है। इसके लिए कई तर्क और हिसाब उन्होंने दिए हैं। किंतु उनके विमर्श में हिंसा को केवल खून बहाने के संकीर्ण अर्थ में लिया गया है। विस्थापन, शोषण, भेदभाव, भूख और अभावों में भी हिंसा छिपी होती है, जो आधुनिक काल में लगातार बनी हुई है और नए रूपों में प्रकट हो रही है। इस विषय पर पाठकों के विचार आमंत्रित है।**

—संपादकीय टीम

यह लेख इंटरनेट से निकालकर बंगलौर से डा. रणजीत ने सामयिक वार्ता को भेजा है।

स्टीवन पिंगर 2012 के जयपुर साहित्य उत्सव में भाग लेने आए थे, तब उन्होंने अपने भाषण में जो कहा था उसका लब्बोलुबाब यह था कि आदमी अब इंसान बनता जा रहा है। भयानक हिंसक युद्ध पहले से कम हो गए हैं और इसके साथ समाज में हिंसा कम होती जा रही है। उनका यह दावा नया नहीं है। उन्होंने अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'द बेटर एजिंल्स ऑफ अवर नेचर—व्हाय वायलेंस हेज डीक्लाइंड' (हमारे स्वभाव के बेहतर फरिश्ते— क्यों हिंसा घटी है) में भी यही दावा किया है।

स्टीवन पिंगर की युद्ध और हिंसा कम होने की बात को पचा पाना थोड़ा मुश्किल ही है। खून, हत्या, बलात्कार, भीड़ हिंसा, नरसंहार, गृहयुद्ध और आतंकवादी हमले— हर अखबार या चैनल पर इस तरह की खबरें देखने को मिल जाती हैं और इन्हें देखकर पहली प्रतिक्रिया यही होती है कि आदमी दिनोंदिन ज्यादा हिंसक और क्रूर होता जा रहा है। इस दुनिया में जीना मुश्किल हो गया है। किसी बड़े-बूढ़े से पूछेंगे तो कहेगा कि कलयुग है, घोर कलयुग। लेकिन इस समय में कोई आपसे यह कहे कि यह कलयुग नहीं सतयुग की शुरुआत है, दुनियां दिनोंदिन बेहतर बनती जा रही है तो आप कहेंगे कि ऐसा तो कोई पागल ही कह सकता है। लेकिन इन दिनों मंदी, और पर्यावरण विभीषका के दौर में अमेरिका और यूरोप में धड़ाधड़ ऐसी किताबें छप रही हैं जिनमें आंकड़ों और तथ्यों के साथ यह दावा किया जा रहा है कि हकीकत वह नहीं है जो हमें नजर आ रही है। आदमी पहली बार इंसान बन रहा है।

दुनिया स्वर्ग भले ही न बनी हो, पहले से कहीं बेहतर हो गई है और लगातार बेहतर बनती जा रही है। अब युद्धों में पहले जितने लोग नहीं मर रहे। हत्या, बलात्कार, घरेलू हिंसा में कमी आई है। स्वास्थ्य में सुधार हुआ है इसलिए लोगों की उम्र में भारी वृद्धि हुई है। यह सब आंकड़ों और तथ्यों के आइने में आपको दिखा दिया जाए तो आपको मानना पड़ेगा।

इस दिनों पश्चिमी देशों में आज की दुनिया के बारे में ऐसी आशावादी तस्वीर प्रस्तुत करने वाली पुस्तकों की बाढ़ आई हुई है। इनमें सबसे चर्चित सटीवेन पिंगर की इस पुस्तक में पिंगर ने एक बहुत सनसनीखेज दावा किया है कि मध्य पूर्व में आतंकवाद, सूडान में नरसंहार और सोमालिया में गृहयुद्ध से कराहती 21वीं सदी मानवीय इतिहास की सबसे कम हिंसक और दरिंदगी वाली सदी है। न केवल हत्याएं, वरन यातना, गुलामी, घरेलू हिंसा, नफरतजन्य अपराध पहले की तरह बहुत आम नहीं रहे। हालांकि वे स्वयं मानते हैं कि उनके दावे को लोग आसानी से हजम नहीं कर सकते क्योंकि हमें हिंसा के इतने सारे उदाहरण रोज देखने को मिल जाते हैं। हमारे पास हर तरफ से हिंसा की खबरें आती हैं और हम समझते हैं हत्या, बलात्कार, कबीलाई युद्ध और आत्मघाती हमलावर सब हमारे आसपास घूम रहे हैं।

पिंगर की यह भी दलील है कि हमने हिंसा की परिभाषा को भी विस्तार दिया है। कुछ दिनों पहले राष्ट्रपति ओबामा ने बुलीइंग (धोंस-धपट) की आलोचना करते हुए भाषण दिया। 40 साल पहले लोगों को यह बात अजीब लगती। मृत्युदंड

का विरोध, घरेलू हिंसा में पुलिस का हस्तक्षेप ये सब महान नैतिक उपलब्धियां हैं। लेकिन इसके साथ पिकर यह टिप्पणी करना नहीं भूलते इनकी वजह से ही यह धारणा भी बनती है कि हिंसा बहुत व्यापक तौर पर फैली हुई है। हम सोचते हैं कि हालात बिगड़ रहे हैं लेकिन असल में हमारी संवेदनशीलता बढ़ गई है और उसका दायरा व्यापक हुआ है।

अपनी दलील की सत्यता को साबित करने के लिए पिकर आंकड़ों, तथ्यों, तालिकाओं का अंबार लगा देते हैं। थामस हॉब्स के जुमले का हवाला देते हैं कि कबीलाई जीवन बहुत खराब, क्रूरतापूर्ण और छोटा था। आंकड़े बताते हैं कि एक आदमी के दूसरे आदमी के हाथों मारे जाने की संभावना तब बहुत ज्यादा यानी 60 प्रतिशत तक थी। यह संभाव्यता 20 वीं सदी के यूरोप और अमेरीका की तुलना में 50 गुना ज्यादा थी। बीसवीं सदी वह सदी थी जब यूरोप में दो विश्वयुद्ध भी हुए। यदि कबीलाई

युद्धों के काल की मृत्युदर बीसवीं सदी में भी होती तो दस करोड़ लोगों की मौत नहीं, दो सौ करोड़ लोगों की मौत होती।

जब पिकर से यह सवाल किया जाता है कि पिछली सदी में इतनी हिंसा और युद्ध हुए, ऐसे में कोई उनकी बात पर विश्वास कैसे कर सकता

है, इसके जवाब में उनका तर्क होता है कि पिछली सदियों के पूरे आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। फिर एक सदी तो सौ वर्षों की होती है उसके हिसाब से तो पिछली सदी का पूर्वार्ध भले ही युद्धों और हिंसा से सराबोर रहा हो लेकिन बाद के पचास साल तो शांति का लंबा कालखंड रहा है जिसमें कम युद्ध हुए हैं।

विचाराधारा और धर्मों के आधार पर हुए हत्याकांडों के बारे में भी वे काफी चौंकाने वाले आंकड़े पेश करते और उसकी मौलिक तरीके से व्याख्या करते हैं। वे मैथ्यू व्हाइट की पुस्तक 'द बिग बुक आफ होरीबल थिंग्स' के हवाले से बताते हैं कि धर्म अभी तक की 100 सामूहिक हत्याओं में से 13 यानी 4 करोड़ और 70 लाख हत्याओं के लिए दोषी हैं। जबकि साम्यवाद 100 में से 19 यानी छह करोड़ 70 लाख हत्याओं का दोषी है। वे कहते हैं कि धार्मिक लोग चाहें तो इस बात पर गर्व कर सकते हैं कि धर्म के नाम पर कम हत्याएं हुईं लेकिन यह कोई

बहुत अच्छा तर्क नहीं है क्योंकि धर्म के नाम पर हत्याएं ऐसे समय हुईं जब विश्व की आबादी बहुत कम थी। मसलन धर्मयोद्धाओं ने 10 लाख लोगों की हत्या तब की जब विश्व की आबादी 40 करोड़ थी। उनकी यह नरसंहार की दर नाजी नरसंहार की तुलना में ज्यादा है। इस आधार पर वे इस दलील को गलत ठहराते हैं कि धर्मों की तुलना में सेकुलर विचारधारा के लोगों ने ज्यादा हिंसा की और खून बहाया। उनका कहना है कि जब हिंसा के इतिहास का सवाल आता है तब मुख्य फर्क धार्मिक या अधार्मिक व्यवस्थाओं का नहीं होता, यूरोपियाई और दुष्प्रचार पर आधारित विचारधाराओं फासिज्म, कम्युनिज्म और धार्मिक शासनों या सेकुलर और लिबरल लोकतंत्रों के बीच होता है जो मानव अधिकारों की संकल्पना पर आधारित होते हैं। वे राजनीतिशास्त्री रुडोल्फ रुमेल द्वारा दिए आंकड़ों के आधार पर कहते हैं कि लोकतांत्रिक व्यवस्था अन्य वैकल्पिक शासन प्रणालियों की तुलना में कम हत्यारी है।

इस पुस्तक में एक तर्क मुख्य रूप से सामने आता है। वह यह कि अतीत जितना हम सोचते हैं उससे ज्यादा हिंसक और कष्टदायक था। जबकि वर्तमान जितना हम सोचते हैं उससे ज्यादा शांतिपूर्ण और कम हिंसक है। वे बुनियादी तौर पर उन विचारकों में से हैं जो मानते हैं कि इतिहास प्रगति की गाथा है।

और कम हिंसक है। वे बुनियादी तौर पर उन विचारकों में से हैं जो मानते हैं कि इतिहास प्रगति की गाथा है। इसलिए ही उन्होंने पुस्तक को नाम दिया है 'बैटर एंजिल्स आफ अवर नेचर'। यह जुमला उन्होंने अमरीका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन के 150 वर्ष पुराने भाषण से लिया है। उनकी यह दृढ़ मान्यता है कि मानवीय सभ्यता ने अपनी यात्रा के हर चरण में हिंसा की परत को निकाल फेंका है। फिर वह चाहे घूमंतू जातियों की एक स्थान पर बसने और ज्यादा सुरक्षित होने की प्रवृत्ति हो या राज्य का व्यवस्था स्थापना का मिशन जिसके तहत वह युद्धों और हथियारों पर एकाधिकार कायम करता है। इसके बावजूद इतिहास में छिटपुट हिंसा के बजाए युद्धों का ही हिंसक मौतों में ज्यादा योगदान रहा है। इतिहास में मुख्य रूप से तीन तरह के संघर्ष रहे हैं— गृहयुद्ध, कबीलाई और राजनीतिक समूहों के संघर्ष और अब आतंकवाद। इसके बावजूद प्राचीन काल से

मानवता के लिए अभिशाप रहे इन युद्धों में पिछले दो दशकों में काफी कमी आई है जिसे वे नई शांति कहते हैं। राज्य के द्वारा संचालित संघर्ष दो विश्वयुद्धों में अपने चरम पर पहुंच गए लेकिन बाद में लगातार उनमें गिरावट आ रही है। वे यह भी बताते हैं कि बीसवीं सदी के तीन प्रमुख हत्यारे थे हिटलर, स्तालिन और माओ जिन्होंने बड़े पैमाने पर नरसंहार किए। इसमें नई तकनालाजी ने उनकी काफी मदद की। परिवहन के तेज गतिवाले साधनों ने उन्हें अपने शिकारों को बड़ी संख्या में निर्जन स्थानों पर मारने के लिए त्वरित गति से ले जाने में मदद की। प्रोफेसर पिकर हाल ही में हुए इराक, अफगानिस्तान, श्रीलंका और सूडान के संघर्षों का गहन अध्ययन करते हैं और इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि इस सदी के पहले दशक में हुए युद्धों में हुई मौतें 5 प्रति लाख प्रतिवर्ष रही। इसकी मुख्य वजह यह है कि अंतरराज्यीय युद्धों में 1945 के बाद कमी आती गई। पांचवें दशक की शुरुआत में हुए कोरियाई युद्ध में पहले चार वर्षों में 10 लाख लोग मरे, इसके बाद हुए वियतनाम युद्ध में नौ वर्षों में 16 लाख लोग मरे। लेकिन बाद के युद्धों में मृतकों की संख्या में कमी आई। 1990-91 में हुए पहले खाड़ी युद्ध में 23 हजार लोग मरे, जबकि ईरिटिया में तीन वर्षों में 50 हजार।

उनका मानना है कि हिंसा के बारे में तुलनात्मक गणना करते समय आप कई तरीकों से सोच सकते हैं, लेकिन इस मामले में कुल संख्या के बजाए अनुपात को जानना ज्यादा उपयोगी होगा। क्योंकि यदि आबादी बढ़ती है तो संभावित हत्यारों, बलात्कारियों, परपीड़कों की संख्या भी बढ़ती है। इसलिए हिंसा के शिकार लोगों की कुल संख्या वही रहती है लेकिन अनुपात घटता है तो इसका मतलब है कि निश्चित ही कुछ महत्वपूर्ण घटित हुआ है जिसके कारण इतने सारे लोग हिंसा से मुक्त रहे।

अपनी पुस्तक में पिकर कई मिथ्या धारणाओं को ध्वस्त करते हैं। इनमें एक यह है कि संसाधनों का अभाव युद्ध का कारण बनता है। उनका मानना है कि ज्यादातर युद्ध अन्न या पानी जैसे या अन्य संसाधनों के अभाव के कारण नहीं होते। हाल ही में हुए कई अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि युद्ध विचारधारा या कुशासन के कारण होते हैं।

भविष्य में हिंसा को लेकर उनकी क्या भविष्यवाणी है? उनका मानना है कि निकट भविष्य में तो मानवतावादी आंदोलनों के मजबूत होने से स्थिति सुधरेगी ही। धर्मद्रोहियों को जलाना, क्रूरतापूर्वक मौत देना, रक्त के खेल, गुलामी, कर्जदार को जेल में रखना, पांव बांधना, विकसित देशों में युद्ध आदि की कम से कम निकट भविष्य में वापसी होने के तो कोई आसार नहीं हैं। यह भी संभव है कि मौत की सजा, महिलाओं के खिलाफ हिंसा, बच्चों के साथ जोर जबरदस्ती और मारपीट, समलैंगिकों को परेशान करना आदि मामलों में आनेवाले दशकों में लगातार कमी आती रहेगी। इसकी वजह यह है कि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर गुलामी आदि के खिलाफ जो अभियान चलाए गए वे सफल हुए हैं। उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि क्रूर तानाशाहों की संख्या घटेगी। एटमी हथियार भी खत्म हो सकते हैं। लेकिन आतंकवाद, गृहयुद्ध और गैर लोकतांत्रिक देशों के बीच युद्ध आदि के बारे में कोई भविष्यवाणी करना मुश्किल होता है क्योंकि वह व्यक्तियों की सोच पर निर्भर हैं। अपराधों की दर के मामले में भी सभी भविष्यवक्ता नाकाम रहे हैं। इसलिए कह पाना मुश्किल है कि भविष्य में उनमें फिर बढ़ोतरी नहीं होगी।

आखिरकार दुनिया में यह सुखद परिवर्तन किस कारण आया है? प्रतिष्ठित पत्रिका इकानामिस्ट के मुताबिक पिकर इसके लिए कांट के सुप्रसिद्ध तीन कारकों के त्रिकोण को कारण मानते हैं— मुक्त अर्थव्यवस्था, लोकतंत्र और बाहरी विश्व से रिश्ते।

## वार्ता के लिए लिखें

सामायिक वार्ता के लिए लेख, अन्य भाषाओं के महत्वपूर्ण लेखों के अनुवाद, साक्षात्कार, रपट, गतिविधियों के सामाचार और टिप्पणियां आमंत्रित हैं। लेख और रपट वार्ता के मिजाज के अनुकूल हो तो बेहतर होगा।

वार्ता में प्रकाशित सामग्री पर आपकी प्रतिक्रिया, टिप्पणियों और पत्रों का भी हमें इंतजार रहेगा। भाषा, टायपिंग और प्रूफ की गलतियों की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित करें तो हमें मदद मिलेगी।

# मां, मेरा कस्बा और किस्सागोई

चीनी नोबल साहित्यकार का आत्मकथ

मो यान

वर्ष 2012 का साहित्य का नोबल पुरस्कार चीनी उपन्यासकार मो यान को मिला। उनका बचपन बहुत गरीबी और कष्टों में बीता। लेकिन इसी ने उन्हें अनुभवों और अहसासों का वह खजाना दिया जिसने उन्हें महान कथाकार बनाया। 7 दिसंबर 2012 को अपने नोबल व्याख्यान में अपनी इसी कथा यात्रा को वे मार्मिक रूप से पेश करते हैं। इस भाषण को वे अपनी मां की यादों से शुरू करते हैं। फिर बताते हैं कि कब और कैसे उन्होंने 'जिंदगी की किताब' को पढ़ना शुरू किया। आधुनिक साहित्यिक विधाओं और प्रवृत्तियों को अपनाते हुए भी वे चीन की किस्सागोई की परंपरा को आगे बढ़ाते हैं। पेश है उनके भाषण का एक अंश। अंग्रेजी से अनुवाद गीत चतुर्वेदी ने किया है, जिसे हमने 'सबद' ब्लाग से साभार लिया है।  
—संपादकीय टीम

मुझे लगता है कि इंटरनेट और टीवी के इस युग में, यहां जितने भी लोग बैठे हैं, वे सभी सुदूर उत्तरपूर्व के गाओमी कस्बे से अच्छी तरह परिचित होंगे। आपने मेरे नब्बे साल के पिता को देखा होगा, मेरे भाइयों, बहनों, मेरी पत्नी और मेरी बेटी, और शायद मेरी पोती को भी देखा हो, जो अब एक साल चार महीने की है। लेकिन जो शख्स इस समय मेरे दिलोदिमाग पर छाई है, उसे आप कभी नहीं देख पाएंगे। वह शख्स है मेरी मां। इस पुरस्कार को जीतने के गौरव-भरे क्षण में कई-कई लोग शामिल हैं, सिवाय उसके।

मेरी मां का जन्म 1922 में हुआ था और 1994 में उसकी मृत्यु हो गई। गांव के पूर्वी छोर पर आड़ू के बागान में हमने उसे दफनाया। पिछले साल सरकार ने हमें मजबूर कर दिया कि हम उसकी कब्र वहां से हटा लें और दूर ले जाएं, ताकि उस जगह पर रेल लाइन बिछ सके। जब हमने कब्र खोदी, तो पाया कि ताबूत पूरी तरह सड़ चुका है और उसकी देह आसपास की गीली मिट्टी में शामिल हो चुकी है। तो निशानी के तौर पर हमने खोदकर वहां से कुछ मिट्टी निकाली, उसे ही हम नई जगह ले गए। इस तरह मुझे यह अनुभव हुआ कि मेरी मां अब पृथ्वी का एक हिस्सा बन चुकी है और जब भी मैं धरती माता से बात करता हूं, दरअसल, मैं अपनी मां से बात कर रहा होता हूं। मैं अपनी मां का सबसे छोटा बच्चा था।

मेरी सबसे पुरानी स्मृतियों में से एक है कि मुझे प्यास लगी थी और पानी पीने के लिए मैं घर का एकमात्र थर्मस ले कैंटीन चला गया। भूख के कारण बहुत कमजोरी थी, सो थर्मस मेरे हाथ से छूटा और टूट गया। बेतहाशा घबराहट में पूरा दिन मैं पुआल के अंबार के पीछे छिपा रहा। शाम होते-होते मां मुझे खोजने लगी। वह मेरे बचपन का नाम ले मुझे पुकार रही थी। मैं धीरे-धीरे रेंगता हुआ छिपने की उस जगह से बाहर निकला। मैं बहुत डरा हुआ था कि अब मेरी पिटाई होगी, डांट पड़ेगी। लेकिन मेरी मां ने मुझे नहीं मारा, उसने कुछ भी नहीं कहा। उसने मेरा सिर सहलाया और एक बहुत गहरी सांस छोड़ी।

मेरी सबसे दर्दनाक स्मृति भी उसी समय की है, जब मैं मां के साथ एक सरकारी खेत में गेहूं की बालियां तोड़ने गया था। और भी लोग तोड़ रहे थे, लेकिन जैसे ही चौकीदार आता, सब यहां-वहां भाग निकलते। लेकिन मेरी मां पैरों से लाचार थी, भाग नहीं पाई, पकड़ी गई। ऊंचे-तगड़े चौकीदार ने उसे इतनी जोर से थप्पड़ मारा कि वह जमीन पर गिर गई। हमने जो भी बालियां तोड़ी थीं, चौकीदार ने हमसे छीन ली और सीटी बजाते हुए चला गया। मेरी मां जमीन पर गिरी पड़ी थी, उसके होंठों से खून की धार बह रही थी। उसके चेहरे पर जो नाउम्मीदी छाई हुई थी, उसे मैं कभी नहीं भूल

सकता। बरसों बाद, बीच बाजार में उस चौकीदार से मेरा सामना हुआ। तब वह बूढ़ा हो चुका था। मैं उसे पीटकर अपना बदला लेना चाहता था, लेकिन मां ने मुझे रोक दिया, 'बेटा, जिस शख्स ने मुझे मारा था और जो तुम्हारे सामने खड़ा है, दोनों पूरी तरह अलग हैं।'

मेरी सबसे साफ स्मृति है चांद के जश्न की। दोपहर का समय था। त्योहार ऐसा दुर्लभ अवसर होता, जब हमें घर पर कटोरा भर जियोजी (एक चीनी व्यंजन) खाने को मिलता था। हम खाने की मेज पर उसका स्वाद ले रहे थे कि दरवाजे पर एक बूढ़ा भिखारी आ गया। मैंने उसे शकरकंद से भरी एक कटोरी देकर विदा करना चाहा, लेकिन वह बुरी तरह भड़क गया, 'मैं बूढ़ा हो गया हूँ। तुम लोग आराम से जियोजी खा रहे हो और मुझे सिर्फ शकरकंद देकर टरका रहे हो। कितने बेरहम हो तुम लोग?' मैंने भी उतने ही क्रोध में जवाब दिया, 'साल में सिर्फ दो दफा जियोजी खाने को मिलता है, वह भी छोटी-सी कटोरी है, देख लो। शुक्र करो कि तुम्हें शकरकंद भी दे रहे हैं। खाना है, तो खाओ, वरना भाड़ में जाओ।' मुझे जी-भर डांटने के बाद मां ने अपनी आधी जियोजी उस बूढ़े के कटोरे में डाल दी।

विकट प्रायश्चित्त से भरी हुई स्मृति भी उन्हीं दिनों की है। मां बाजार में पत्तागोभी बेच रही थी और मैं उसकी मदद कर रहा था। पता नहीं, जाने या अनजाने, मैंने एक महिला से एक जियाओ (चीनी मुद्रा) कीमत ज्यादा वसूल कर ली। उसके बाद मैं स्कूल चला गया। दोपहर को जब घर लौटा, तो देखा, मां रो रही थी। वह शायद ही कभी रोती थी। मुझे डांटने के बजाय, रुंधी हुई मुलायम आवाज में उसने कहा, 'बेटा, आज तुमने अपनी मां को बहुत दुखी किया है।'

मेरा लड़कपन बीता भी नहीं था कि मां को फेफड़ों की गंभीर बीमारी हो गई। भूख, बीमारी

और हाड़तोड़ काम ने मेरे परिवार की स्थितियां मुश्किल बना दी थीं। आगे का रास्ता बहुत धुंधला दिखता था, भविष्य से मैं खौफजदा रहता था। ऐसा लगता कि मां खुद ही किसी रोज अपनी जान न ले ले। दिन-भर कड़ी मजदूरी करने के बाद शाम जब मैं घर में घुसता, तो सबसे पहले अपनी मां को पुकारता था। उसकी आवाज सुनकर लगता कि मेरी जिंदगी के दिन और बढ़ गए हैं। जिस रोज उसकी आवाज न आती, मैं बुरी तरह घबरा जाता। मैं बगल की इमारतों या चक्की में उसे खोजता। एक रोज मैंने उसे हर जगह खोजा, लेकिन वह कहीं नहीं मिली। मैं वहीं अहाते में बैठ गया और बच्चों की तरह रोने लगा। अपनी पीठ पर ईंधन की लकड़ियों का बोझा बांधे जब वह अहाते में घुसी, मैं वहां बिलख-बिलखकर रो रहा था। मेरी इस हरकत पर वह बहुत नाराज हुई, लेकिन मैं उसे बता नहीं सकता था कि मैं कितना डरा हुआ था। फिर भी वह सब जानती थी। उसने कहा, 'बेटा, हो सकता है कि मेरी जिंदगी में कोई खुशी न हो, लेकिन चिंता मत करो, मैं तब तक तुम्हें छोड़कर नहीं जाऊंगी, जब तक खुद यमराज अपने हाथों से मुझे उठाकर न ले जाए।'

मैं जन्म से ही बदसूरत था। गांववाले मेरा चेहरा देखकर हंसते थे। स्कूल में मेरे रूप का मखौल करते लड़के मुझे पीट देते थे। मैं रोता हुआ घर दौड़ता था, जहां मां होती थी, यह कहने के लिए, 'तुम बदसूरत नहीं हो, बेटे। तुम्हारी एक नाक है और दो आंखें हैं, तुम्हारे हाथ-पैर सही-सलामत हैं, फिर कैसे तुम बदसूरत हो गए? अगर तुम अपना दिल साफ रखोगे और हमेशा अच्छे काम करोगे, तो जिस चीज को बदसूरत कहा जा रहा है, उसी को एक दिन बहुत सुंदर कहा जाने लगेगा।' बाद के बरसों में, जब मैं शहर में रहने लगा, मेरी मुलाकात बहुत पढ़े-लिखे लोगों से होती थी। वे पीठ पीछे मुझ पर हंसते थे, कुछ तो मेरे सामने ही मेरा मजाक उड़ाते थे। जब मुझे मां की ये बातें याद आती, मैं

मुस्करा कर उनसे क्षमा मांगता और वहां से हट जाता था।

मेरी मां अनपढ़ थी और उन लोगों की बहुत इज्जत करती थी, जिन्हें पढ़ना आता हो। हमारी हालत इतनी पतली थी कि हमें यह नहीं पता होता था कि अगले पहर का खाना हमें किस ठौर से मिलेगा। उसके बाद भी मां ने किताब, कॉपी या पेंसिल खरीदने की मेरी जिद से कभी इंकार न किया। वह स्वभाव से ही परिश्रमी थी और आलसी बच्चे उसके किसी काम के न थे, फिर भी जितनी देर तक मेरी नाक किताबों में गड़ी होती, मुझे तक कोई काम न पहुंचने दिया जाता।

उन दिनों बाजार में एक किस्सागो आया हुआ था। मैं चोरी-छिपे उसे सुनने चला गया। उसके चक्कर में मैंने अपने काम भुला दिए, जिससे मां मुझे नाराज हुई। लेकिन उस रात जब एक ढिबरी की कमजोर रोशनी में वह हमारे लिए कपड़े सिल रही थी, मैं दिन में सुनी कहानियां उसे सुनाने से खुद को रोक न पाया। उसका मानना था कि पेशेवर किस्सागो मीठा-मीठा बोलने वाले वाचाल लोग होते हैं, जो दरअसल एक खराब धंधे में लगे होते हैं और उनके मुंह से कभी कोई काम की बात नहीं निकलती, इसीलिए शुरू में उसने मेरी बातों को ध्यान से नहीं सुना। लेकिन जैसे-जैसे मैंने कहानी आगे बढ़ाई, वह उसकी ओर खिंचती चली गई। उसके बाद, जिस दिन हाट लगता था, मां मुझे कोई काम नहीं देती थी। एक तरह से यह एक अघोषित अनुमति थी कि मैं बाजार जाऊं और नई कहानियां सुनकर आऊं। मां की इस दयालुता की कद्र करने और अपनी स्मृति का प्रदर्शन करने के लिए, मैं लौटकर हर तपसील के साथ मां को वे सारी कहानियां सुनाया करता था।

आप बहुत लंबे समय तक दूसरों की कहानियां सुना-सुनाकर संतुष्ट नहीं हो सकते, इसलिए मैंने अपनी कहानियां बुननी शुरू कर दीं। मैं अपनी

कहानी में वे बातें कहता, जिनसे मां खुश हो सके, उसके चेहरे के भाव पढ़ते हुए मैं एक झटके में कहानियों के अंत बदल दिया करता था। वह मेरी इकलौती श्रोता नहीं थी, मेरी दीदियां, मौसियां और मेरी नानी भी अब वहीं बैठ मेरी कहानियां सुनने लगी थीं। किसी-किसी रोज मेरी कहानी खत्म होने के बाद मां थोड़ी देर चुप रहती, फिर बेहद फिक्र में डूबी आवाज में बुदबुदाती, जैसे खुद से ही बात कर रही हो, 'मैं सोचती हूँ, बच्चे, तुम बड़े होकर क्या बनोगे? ऐसे ही गप मार-मारकर पैसे कमा लोगे?'

मुझे पता था, वह क्यों चिंता करती थी। बातूनी बच्चों को गांव में अच्छा नहीं माना जाता था, क्योंकि अपनी बड़-बड़ से वे अपने और परिवार के लिए

मुसीबतें मोल लिया करते थे। मेरी एक कहानी है, 'बुल्स', उसमें जो बातूनी बच्चा है, उसमें आप मेरे इसी बचपन को देख सकते हैं। मां हमेशा मुझे चेताया करती कि इतना न बोलूं। वह चाहती थी कि मैं एक अल्पभाषी, मूढ़ और स्थिर नौजवान बनूं। जबकि एक खतरनाक युग्म मुझे पर काबिज हो चुका था— विलक्षण वाकपटुता और उसके साथ चलने वाली बलवान इच्छाओं का युग्म। कहानियां सुनाने की

मेरी सलाहियत उसे खुश भी करती थी, लेकिन इसी से उसकी दुविधा और बढ़ती जाती।

पुरानी कहावत है, नदी की धारा बदल सकते हो, इंसान का स्वभाव नहीं। मां की अथक नसीहतों के बाद भी बोलने की मेरी नैसर्गिक इच्छा कभी खत्म न हो पाई और इसी तरह मैंने अपना यह नाम रखा— 'मो यान' यानी मौन यानी चुप रहो। खुद का मजाक उड़ाती एक टेढ़ी अभिव्यक्ति।

प्राइमरी स्कूल के दिनों में ही मेरी पढ़ाई छूट गई थी। ज्यादा मेहनत के कामों के लिए मैं अभी छोटा था, सो मुझे पास ही एक जगह चरवाहे का काम मिल गया। जहां मैं मवेशियों को हांककर मैदान की ओर ले जाता था, वहां से मेरा स्कूल साफ दिखता था। मैदान में बच्चों को खेलता देख मैं



हमेशा उदास हो जाता और बार-बार यह अहसास होता कि चाहे बच्चा ही क्यों न हो, झुंड से बिछुड़ना बहुत दुखदायी होता है।

नदी किनारे पहुंच मैं मवेशियों को खुला छोड़ देता था। समंदर जैसे नीले आसमान के नीचे, जहां तक नजर जाए, वहां तक घास से ढंकी धरती पर वे चर रहे होते। दूर-दूर तक कोई मनुष्य न दिखता, कोई इंसानी आवाज नहीं, सिर्फ ऊपर से आती चिड़ियों की चहचहाहटें। अपने बूते वहां बैठा मैं बुरी तरह अकेला होता, दिल में खालीपन महसूस करता। कभी-कभी मैं घास पर लेट जाता और देखता कि बादल बेतहाशा आलस में बहते हैं। उनका बहना तमाम कल्पनाओं को जन्म दे देता। उस इलाके में, युवतियों में बदल जाने वाली लोमड़ियों की कहानी बहुत प्रचलित थी। मैं कल्पना करता कि एक लोमड़ी बहुत सुंदर लड़की का रूप धरकर आई है, वह मेरी और मेरे मवेशियों की रखवाली कर रही है। वह कभी नहीं आई। हालांकि, एक बार सचमुच की एक लोमड़ी झाड़ियों के पीछे से कूदकर बाहर आई, जिसे देख मेरी टांगें भीतर तक कांप गई थीं। उसके नजरों से ओझल हो जाने के बाद भी मैं घंटों, कांपता हुआ ही बैठा रहा।

कई बार मैं गायों के बहुत करीब चला जाता और उनकी गहरी नीली आंखों में झांककर देखता। आंखें, जो मेरा अक्स पकड़ लेती थीं। कई बार मैं आसमान में उड़ती चिड़ियों से बातें करता, उनकी आवाजों की नकल उतारता। कभी-कभी एक पेड़ के सामने बैठकर उसे अपनी उम्मीदें और इच्छाएं बताता। चिड़ियाएं मुझे नजरअंदाज कर देतीं। पेड़ भी मुझ पर कभी ध्यान न देते। बरसों बाद, जब मैं उपन्यासकार बन गया, मैंने उन दिनों की कुछ कल्पनाओं को अपने उपन्यासों और कहानियों में दर्ज किया। लोग मेरी अद्भुत कल्पनाओं की सराहना करते हुए मुझ पर बधाइयों की बौछार करने लगे, साहित्यप्रेमी मुझसे सवाल करने लगे कि इतनी उर्वर

कल्पनाशक्ति का रहस्य क्या है। ऐसे सवालों के जवाब में मैं मुस्कान से ज्यादा कुछ न दे पाया।

लाओत्से कहता था, 'सौभाग्य, दुर्भाग्य पर निर्भर करता है। दुर्भाग्य, सौभाग्य के भीतर ही कहीं छिपा होता है।' बचपन में ही स्कूल छूट गया, मैं अक्सर भूखा रहता था, हर घड़ी अकेलापन होता और पढ़ने के लिए कोई किताब भी न होती। पिछली पीढ़ी के लेखक शेन कोंगवेन की ही तरह, मैंने भी बहुत जल्द ही जिंदगी की किताब पढ़नी शुरू कर दी। बाजार जाकर किस्सागो को सुनना इस किताब का महज एक पन्ना-भर है।

स्कूल छूटते ही बड़ी बेआरामी के साथ मुझे बड़े लोगों की दुनिया में धकेल दिया गया, जहां एक लंबी यात्रा की शुरुआत हुई— सुनो और सुनकर सीखो। जिस इलाके में मैं पला-बढ़ा था, उसी के पास, दो सौ साल पहले, इतिहास के महानतम किस्सागो में से एक, पू सोंगलिंग रहा करते थे। वहां मुझ समेत ऐसे अनेक लोग थे, जो उनकी परंपरा का

भली-भांति निर्वाह कर रहे थे। मैं जहां कहीं होता— भले सरकारी खेतों में काम करता हुआ, तबेलों में सफाई करता हुआ, नाना-नानी के गांव में या ऊबड़-खाबड़ सड़कों पर उछलती-दचके खाती बैलगाड़ियों पर ही क्यों न बैठा होता, हर जगह मेरे कान अलौकिक, ऐतिहासिक प्रेमकथाओं से भरे होते, अजीब किस्म की कहानियों से, जो आपको तुरंत अपने कब्जे में ले लें। सारी कहानियां प्राकृतिक वातावरण और खानदानी इतिहास के धागों से बंधी होतीं। और ये सब मिलकर मेरे भीतर एक शक्तिशाली यथार्थ की रचना करती चलतीं।

अपने सबसे बनैले सपनों में भी मैंने कभी यह नहीं सोचा था कि एक रोज इन सारी चीजों का इस्तेमाल मैं अपनी किताबों में करूंगा। मैं तो महज छोटा-सा एक बच्चा था, जिसे कहानियां पसंद थीं, जो आसपास के लोगों द्वारा सुनाए गए किस्सों के इश्क में पड़ जाता था।

मैं एक किस्सागो हूँ, तो मैं आपको कुछ किस्से सुनाने जा रहा हूँ।

1960 के दशक में जब मैं तीसरी कक्षा में पढ़ता था, स्कूल से हम लोगों को दुख का दर्शन कराने ले जाया गया, जहां शिक्षकों के इशारे पर, हमने जार-जार आंसू बहाए। मैंने कुछ आंसू अपने गाल पर चिपके रहने दिए ताकि शिक्षक उन्हें देख सकें। उस समय दूसरे कुछ बच्चे अपने गाल व आंखें मल रहे थे, ताकि वे रोने का स्वांग निभा सकें। कुछ असली, कुछ नकली मातम में डूबे उन तमाम बच्चों के बीच मेरी नजर एक ऐसे बच्चे पर पड़ी, जिसका चेहरा एकदम सूखा था, जिसने हथेलियों से अपना चेहरा नहीं ढांपा था, जो रोने की कोई कोशिश भी नहीं कर रहा था, उल्टे आंखें फाड़े हम सबको देख रहा था, चकराए हुए उसके चेहरे पर बेतहाशा हैरानगी थी। स्कूल लौटने के बाद मैंने शिक्षक से उसकी शिकायत कर दी। उसे खूब डांट पड़ी। बरसों बाद, उसी शिक्षक के सामने मैं जब अपनी इस हरकत पर दुख जता रहा था, उन्होंने बताया कि उस रोज कम से कम दस लड़कों ने उसकी शिकायत की थी। उस घटना के दस साल बाद वह लड़का मर गया। जब भी मैं उसके बारे में सोचता, मेरा जमीर मुझे धिक्कारता। लेकिन उस घटना से मैंने एक बहुत महत्वपूर्ण बात सीखी और वह यह है कि जब आपके आसपास

सारे लोग रो रहे हों, तब आपको न रोने का पूरा-पूरा अधिकार है, और अगर रोते हुए उन लोगों के आंसू नकली हैं, तब तो न रोने का आपका अधिकार और भी बड़ा हो जाता है।

एक और किस्सा सुनिए : तीस से ज्यादा साल हुए, तब मैं सेना में था। अपने दफ्तर में बैठा एक शाम जब मैं कुछ पढ़ रहा था, एक बुजुर्ग अधिकारी ने दरवाजा खोला और अंदर आए। उन्होंने मेरे सामने पड़ी खाली कुर्सी पर नजर टिकाई और बुदबुदाए, 'हम्म। यहां कोई नहीं है क्या ?' मैं खड़ा हो गया और जोशीली आवाज में कहा, 'मैं तो हूँ। क्या आप मुझे भी कोई नहीं मानेंगे ?' शर्मिंदगी से उन बुजुर्गवार के कान सुर्ख हो गए और वह वहां से चले गए। लंबे समय तक मैं इसे अपना एक दुस्साहसी कारनामा मानते हुए गर्वित रहा। आज बरसों बाद, वह गर्व मेरी आत्मा के भीतर एक गहरे शोक में बदल चुका है।

मैं एक किस्सागो हूँ : किस्से सुना-सुनाकर ही मैंने नोबेल पुरस्कार जीता है।

पुरस्कार को जीतने की इस यात्रा के दौरान मेरे साथ बहुत सारी दिलचस्प चीजें घटित हुई हैं, और उन सबने मुझे यह यकीन दिला दिया है कि दुनिया में सत्य और न्याय, न केवल जिंदा हैं, बल्कि स्वस्थ भी हैं।

तो, आने वाले दिनों में मैं अपने किस्से सुनाना जारी रखूंगा।

## ग्राहक एवं दानदाता ध्यान दें

1. यदि आप सीधे 'सामयिक वार्ता ट्रस्ट' के पंजाब नेशनल बैंक के खाता क्र. 3979000100117987 में राशि जमा कर रहे हैं, तो कृपया हमें निम्न सूचना जरूर दें: आपका नाम-पता, आपकी पिछली ग्राहकी का स्वरूप और राशि जमा करने की तारीख। यह सूचना आप फोन, एसएमएस, पत्र या ईमेल द्वारा दे सकते हैं।
2. यदि आप मनीऑर्डर से राशि भेज रहे हैं, तो कृपया सुनिश्चित करें कि डाकघर का कर्मचारी प्रेषक के रूप में आपका पूरा नाम-पता दर्ज करे। आजकल मनीऑर्डर कंप्यूटर से भेजे जाते हैं और अक्सर डाकघर का कर्मचारी आलस्यवश कंप्यूटर में प्रेषक का पूरा पता दर्ज नहीं करता है। यदि आप अलग से पोस्टकार्ड, पत्र, फोन या एसएमएस द्वारा भी हमें सूचना दे दें (नाम-पता एवं मनीऑर्डर भेजने की तारीख) तो बेहतर होगा।
3. हम अपने दफ्तर में प्राप्त सभी राशियों की पावती भेजने का नियम बना रहे हैं। एक सौ रु. तक की राशि पाने की सूचना पोस्टकार्ड से देंगे। इससे बड़ी राशि की रसीद लिफाफे में भेजेंगे।
4. आपके पते में कोई बदलाव होता है, या आप नोटिस करते हैं कि आपको मिल रही वार्ता में पता सही/पूरा नहीं लिखा है, तो आप हमें जरूर सूचित करें।
5. अपने पते में पिनकोड जरूर दें।
6. प्रबंध संबंधी सूचनाएं कृपया चंद्रशेखर मिश्रा 09993737039 को दें।

प्रबंधक



ठाकुरदास बंग

1

# सर्वोदय के अर्जुन

नारायण देसाई

सन् 1952 के प्रारंभ में वाराणसी के पास सेवापुरी स्थित रचनात्मक कार्यक्षेत्र में सर्वोदय समाज का वार्षिक अधिवेशन आयोजित था। स्वतंत्रता के बाद का ऐसा यह काल था, जिसमें उनके गांधी भक्तों ने हृदय मंथन किया था। 30 साल के अहिंसक संघर्ष के बाद देश विभाजन के साथ स्वतंत्रता प्राप्त हुई थी। करीब 3 वर्ष तक सर्वोदय कार्यकर्ता इस पशोपेश में रहे कि बापू के नहीं रहने के बाद, अब हमें क्या करना चाहिए ?

विनोबा ने एक वर्ष की देश भर की शांति यात्रा के बाद पदयात्रा का निर्णय लिया और तेलंगाना से पदयात्रा प्रारंभ कर भूदान यज्ञ का प्रारंभ किया। सेवापुरी का सर्वोदय सम्मेलन एक वर्ष की विनोबा की कमोबेश एकाकी पदयात्रा के बाद कामकाज का मूल्यांकन कर आगे की काम की दिशा तय करने का ऐतिहासिक अवसर था। सम्मेलन में उपस्थित हजारों छोटे बड़े कार्यकर्ता जहां मुख्यतः विनोबा को सुनने के लिए उत्सुक थे, वहीं विनोबा यह जानने को उत्सुक थे कि उनके इस एकाकी यज्ञ में कौन-कौन सहयोग देने को तैयार हैं।

कई व्याख्यानों के बाद एक तरुण बोलने के लिए खड़ा हुआ जिसका व्याख्यान सुनते ही मेरे मुंह से बरबस यह निकला कि, अहा मानो यह अर्जुन के रथ की गड़गड़ाहट है। विनोबा के पंचजन्य के बाद दूसरा जो शंखनाद सुना था वह 30-32 वर्ष के धनंजय प्रोफेसर ठाकुरदास बंग का था।

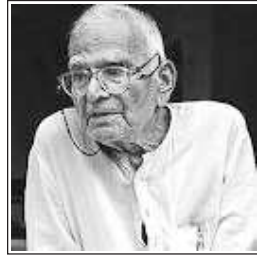
इतिहास के उस मोड़ पर जब अधिकांश तेजस्वी भारतीयों की निगाह दिल्ली की ओर ली हुई थी तब इने-गिने कुछ तेजस्वी तरुणों ने सिर्फ अपना ध्यान ही नहीं बल्कि अपनी शक्ति भारत के दरिद्रनारायण की सेवा में समर्पित की। प्रो ठाकुरदास बंग अगर चाहते तो मुख्यधारा में काफी अग्रस्थान पा सकते

थे। अर्थशास्त्र के विषय में स्वर्ण पदक हासिल कर और ऊंची उड़ान लगाने के ख्याल से वे अमेरिका की किसी विश्वविद्यालय में जाने की तैयारी कर चुके थे। सारे कागजात तैयार थे। वीसा भी मिल चुका था। ठाकुरदास ने सोचा कि जाने से पहले बापू के आशीर्वाद प्राप्त कर लूं। सेवाग्राम पहुंचे और बापू के चरणों में माथा टेककर कहा, आगे पढ़ाई के लिए अमेरिका जा रहा हूं। आपका आशीर्वाद चाहिए। बापू ने सहज ही पूछा किस विषय की पढ़ाई के लिए जा रहे हो ? ठाकुरदास ने कहा अर्थशास्त्र की। बापू ने सहज ही कहा,

अर्थशास्त्र सीखना हो तो अमेरिका नहीं, भारत के देहात में जाना चाहिए। इसी एक वाक्य ने अर्थशास्त्र के तेजस्वी छात्र ठाकुरदास को आजीवन सेवक में बदल दिया।

आज पीछे मुड़कर देखता हूं तब प्रतीत होता है कि सेवापुरी में प्रथम दर्शन पर मन में अनायास अर्जुन से जो उनकी तुलना हो गई थी वह अनेक मायने में सही थी। अपने लक्ष्य पर लगी हुई अचंचल टकटकी ने सेवापुरी से जो राह पकड़ी उस पर अंत तक अडिग रही, चाहे वे जे सी कुमारप्पा के साथ खेती के काम में जुड़े हों, चाहे फिर भूदान के लिए प्रारंभ में विदर्भ में और बाद में देश के अनेक गांवों में पहुंच गए हों। लक्ष्य तो भारत का असली अर्थतंत्र सीखने सिखाने का था।

उनमें जितनी सादगी थी उतनी ही तीव्र बुद्धि और उतना ही सातत्यपूर्ण स्वाध्याय भी था। छः दशकों के अनवरत कर्मयोग के साथ-साथ अध्ययन भी निरंतर चालू रहा। सतत् भाग दौड़ के बीच और अंतिम वर्षों में तो लगातार औषधियों का पूरा डिब्बा साथ लिए हुए बंग साहब ने संपूर्ण गांधी वांग्मय के सौ ग्रंथ आदि से अंत तक पढ़ लिए। इतना ही नहीं डा. राममनोहर लोहिया का भी प्रायः पूरा लिखित साहित्य पढ़ लिया था।



भूदान आंदोलन में बंग साहब का एक विशेष प्रयास सामूहिक पदयात्रा का था। यह कार्यक्रम को हम बहुस्वाम के मंत्र को चरितार्थ करने वाला था। जहां एक साथ सैकड़ों कार्यकर्ता किसी तहसील से लेकर उसका प्रत्येक गांव छान लेते थे और जहां औसत सामर्थ्य वाले कार्यकर्ता उष्मा एवं ऊर्जा प्राप्त करते थे। एक माने में यह विनोबा के सुझाए हुए गणसेवकत्व का ही प्रकार था। बंग साहब के इर्द गिर्द उनका अपना ही चंद्रमंडल बन जाता था। उनकी यह मित्र मंडली भले ही प्रसिद्ध लोगों की न हो, त्याग और तपस्या में उनमें से कोई किसी से कम नहीं था। हमारे बहुत कम साथियों ने इतने तपे मूक सेवक पैदा किए होंगे।

देश भर में इने-गिने ही ऐसे कार्यकर्ता होंगे जिनका पूरा परिवार आजीवन समाज सेवा में जुटा हो। सहचारिणी सुमनताई, पुत्र अशोक और अभय, पुत्रवधुओं सहित सेवाव्रतधारी हैं। महात्मा से दृष्टि

पाकर बंग साहब ने कुमारप्पा, विनोबा, जयप्रकाश के साथ अपनी नम्रता बनाए हुए स्वतंत्र अस्मिता भी कायम रखी। उनका प्रमुख सेवा क्षेत्र तो शायद विदर्भ ही मानना होगा जिसकी संस्कृति उनके रज-रज में बसी थी। लेकिन चिंतन क्षेत्र समूचा देश और कुछ माने में पूरा विश्व था। संगठन की दृष्टि से देखें तो विनोबा और जयप्रकाश जैसे दिग्गजों के जाने के बाद सर्व सेवा संघ को टिकाए रखने का काम सिद्धराज ढड्डा तथा ठाकुरदास बंग ने ही किया।

तेजस्वी लोगों के साथ चलना अपेक्षाकृत आसान होता है। लेकिन उनकी स्मृतियों को

टिकाए रखकर परिस्थिति के अनुसार संगठन में प्राणपूर्ति करते रहना उतना आसान नहीं है जैसा कि राजस्थान और महाराष्ट्र की इस जुगल जोड़ी ने किया था।

:- संपूर्ण क्रांति विद्यालय, वेडछी,

जिला सूत (गुजरात) - 394641, फोन : 02625220074

## 2

# अनासक्त कर्मयोगी की विदाई

संतोष कुमार द्विवेदी

अतत: 27 जनवरी 2013 को सुबह वह खबर आने के 5-6 माह पूर्व से सिद्धराज ढड्डा के शतायु क्लब के सबसे दीर्घजीवी सदस्य 95 वर्षीय प्रो. ठाकुरदास बंग ने अपने महाप्रयाण का अहसास कराना शुरू कर दिया था। पिछले एक माह से उनका उठना-बैठना, लगभग बंद था। जाहिर है कि यह स्थिति उनके जैसे स्वावलंबी कर्मयोगी के लिए नाकाबिले बर्दाश्त थी। फिर भी उन्होंने शांति से परमसखा मृत्यु की प्रतीक्षा की।

गांधी विचार और मूल्यों को आत्मसात करके अपने लेखन और कर्म से उन्होंने जैसा प्रकट किया, वह अद्भुत व अनोखा था। वे गांधी विचार एवं मूल्य निष्ठा के अंतिम जीवंत प्रतिमूर्ति थे जिनके व्यक्तित्व में गांधी युग के साक्षात् दर्शन होते थे। तभी तो

गणेश शर्मा द्वारा गांधी मूल्यों के बारे में पूछने पर वरिष्ठ पत्रकार कुमार प्रशांत ने उन्हें जवाब दिया, प्रो. बंग को देख लो। जवाब मिल जायेगा।

प्रो ठाकुरदास बंग का जन्म 18 नवंबर 1917 को महाराष्ट्र के अमरावती जिले के गणौरी गांव में हुआ था। उनकी प्राथमिक शिक्षा वहीं हुई, किंतु पिता की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी, इसलिए वे अपने मामा के यहां चले गए और हाई स्कूल तक की पढ़ाई वहां की। पढ़ाई में वे अत्यंत मेधावी भी थे और मिडिल स्कूल से हाई स्कूल तक की सभी परीक्षाओं में टॉप किया था। इसके बाद उच्च शिक्षा के लिए वे नागपुर आए और सीपी एण्ड बरार कॉलेज से स्नातक एवं स्नातकोत्तर की परीक्षाएं उत्तीर्ण की। स्नातक में चार विषयों में उन्हें गोल्ड मेडल मिला।

अर्थशास्त्र, अंग्रेजी और कानून विषयों में उन्होंने उच्च शिक्षा ली, तथा विद्वानों में शुमार हुए। 1941 में वर्धा के जी.एस. कामर्स कॉलेज में उन्हें अर्थशास्त्र का व्याख्याता बनाया गया। लेकिन 1942 में महात्मा गांधी के भारत छोड़ो आंदोलन की पुकार सुन कॉलेज की नौकरी से त्यागपत्र देकर वे आंदोलन में कूद पड़े, पकड़े गए और जेल हुई। वे लगभग ढाई साल नागपुर और जबलपुर की जेलों में रहे।

जेल से छूटने के बाद कॉलेज प्रबंधन के आग्रह पर वे फिर से महाविद्यालय में शामिल हो गए और 1950 तक वहां अध्यापन कार्य किया। लेकिन उनका मन वहां ज्यादा दिन नहीं लगा। गांधी के सपनों पर आधारित समाज बनाने की धुन उन्हें चैन से बैठने नहीं दे रही थी। लिहाजा अपने कुछ नामचीन साथियों मधुकर राव चौधरी (जो बाद में महाराष्ट्र के शिक्षामंत्री और विधानसभा अध्यक्ष रहे), विशेषज्ञ बसंतराव बोंबटकर, देवराव होल्के और कुछ छात्रों को साथ लेकर उन्होंने वर्धा के पास बरबडी, महाकाल और सातोड़ा आदि गांवों में एक साल रह कर गांवों के निर्माण व विकास की दिशा में शिक्षण, संगठन व रचना का ठोस काम किया। लेकिन भूदान की आंधी ने उन्हें यहां भी ज्यादा समय तक बैठने नहीं दिया। भूदान-ग्रामदान के लिए उन्होंने अनगिनत पदयात्राएं की और हजारों एकड़ जमीन दान में पाई और बांटी। 1957 में विदर्भ में ग्रामस्वराज्य के काम के लिए तैयार हुए 100 ऐसे समयदानियों का उन्होंने नेतृत्व किया जो 365 दिन घर गए बिना ग्राम रचना के काम में जुटे। चंबल की दस्यु समस्या के उन्मूलन में भी उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

बंग साहब भी लकीर के फकीर नहीं रहे। यही वजह है कि वे सन् 74 की पदचाप सुन सके और

अपने स्वप्नजीवी मन को उसके लिए तैयार कर सके। विनोबा जी की सहमति की प्रतीक्षा किये बिना ही वे सर्व सेवा संघ के साथ संपूर्ण क्रांति आंदोलन में कूद पड़े। प्रो. बंग इस आंदोलन के पहली पंक्ति के उन नेताओं में शुमार थे, जिन पर जे.पी. को भी और देश को भी भरोसा था। विनोबा और जे.पी. जैसी महान विभूतियों के तिरोहित होने के बाद भी उन्होंने सर्वोदय आंदोलन को फीका नहीं पड़ने दिया। वे उसे लगातार गति और शक्ति प्रदान करते रहे।

वे सर्वोदय आंदोलन के सर्वोच्च संगठन 'सर्व सेवा संघ' के दो बार अध्यक्ष और तीन बार मंत्री रहे। उनमें बौद्धिक और शारीरिक क्षमता का गजब का सामंजस्य था। उन्होंने बिना रुके, बिना थके सतत काम किया। उनकी सादगी, समझ और समर्पण का कोई सानी नहीं था। परिस्थिति चाहे जैसे रही हों, उन्होंने स्वयं में और अपने आंदोलन के अंदर कभी भी निराशा का भाव नहीं आने दिया।

अपनी मातृभाषा मराठी के अलावा वे हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत और बांग्ला के प्रकांड विद्वान थे। अर्थशास्त्र एवं कानून के तो पंडित ही थे। उन्होंने एक दर्जन से अधिक किताबें लिखी हैं, लेकिन उनका लेखन पांडित्य के प्रदर्शन के लिए नहीं, लोक शिक्षण के लिए था। इसीलिए वे सरल और बोधगम्य शैली में छोटी-छोटी किताबें लिखते थे।

वे एक अनासक्त कर्मयोगी थे। बंग साहब के सुदीर्घ जीवन में उनके लिखे-किए, जुड़ने और जोड़ने की लंबी शृंखला है जो हमें निरंतर प्रेरित करती रहेगी।

:- एम आई जी - 5, हाजसिंग बोर्ड, कालोनी,  
उमरिया (म.प्र.) 484661, फोन : 09425181902

## विनोदानंद प्रसाद सिंह

### 1

## ताजिंदगी प्रतिबद्ध समाजवादी

### नवीन

समाजवादी जनपरिषद के पूर्व राष्ट्रीय उपाध्यक्ष विनोदानंद प्रसाद सिंह का 73 वर्ष की आयु में 8 फरवरी 2013 को पटना के आईजीएमएस में निधन हो गया। गत कुछ वर्षों से वह नाना प्रकार की

व्याधियों से जूझ रहे थे। दोनों आंखों की रोशनी भी चली गई थी। शरीर इतना जर्जर हो चुका था कि खुद से उठ-बैठ भी नहीं सकते थे।

विनोद जी मात्र बारह वर्ष की अल्पायु से ही

समाजवादी आंदोलन से जुड़ गए थे। दिल्ली के सत्यवती कॉलेज में वह अर्थशास्त्र पढ़ाते थे। सत्तर के दशक के समाजवादी युवजन सभा देश का सबसे तेजस्वी, प्रखर व प्रभावी युवा संगठन था तो विनोद जी इसके राष्ट्रीय कोषाध्यक्ष थे। यही वही दौर था जब देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों के छात्र संघों पर सयुस का कब्जा था। 1973 से 1977 तक वह जार्ज फर्नांडीस की अध्यक्षता वाली सोशलिस्ट पार्टी के राष्ट्रीय मंत्री थे। बिहार आंदोलन और आपातकाल में उन्होंने कारावास की सजा भी काटी। बड़ौदा डायनामाइट केस में गिरफ्तार जार्ज फर्नांडीस की रिहाई के लिए बनी डिफेंस कमेटी के कूपन बेचने के लिए उन्होंने दूर-दूर तक यात्राएं की। 1977 के ऐतिहासिक चुनाव में वह मुजफ्फरपुर जिले के गायघाट विधानसभा क्षेत्र से विजयी हुए थे। 1984 के चुनाव में मुजफ्फरपुर से लोकसभा के लिए खड़े थे, मगर हार गए। बाद के दो विधानसभा चुनावों में भी उन्हें सफलता नहीं मिली। स्थापित मुख्यधारा की राजनीतिक पार्टियों से जब विचार और आदर्श विदा होने लगे तो वह समाजवादी जनपरिषद से जुड़े और बाद में तो इस दल के राष्ट्रीय महामंत्री और अध्यक्ष भी बने।



विनोद जी को इसलिए भी याद किया जाएगा कि उन्होंने समाजवादी आंदोलन के बिखरे और बेतरतीब दस्तावेजों को सहेजा और दो खंडों में संपादित करने का श्रमसाध्य काम किया। प्रतिपक्ष और 'द अदर साइड' के भी संपादन में उनका अप्रतिम योगदान था। बाद में अपनी प्रिय पत्रिका 'नया संघर्ष' का संपादन भी अत्यंत कुशलता से किया। नया संघर्ष के कुछ विशेषांक तो अविस्मरणीय रहेंगे। 1942 की अगस्त क्रांति महाविशेषांक तो शायद हिन्दी की पहली और

इकलौती पत्रिका होगी जिसमें सारी सामग्री एक ही अंक में समाहित हो। इस तरह से मधु लिमये पर एकाग्र और तिब्बत केंद्रित अंक भी स्थायी महत्व के हैं। मूर्धन्य क्रांतिकारी सूरजनारायण सिंह की जीवनी उन्होंने छपरा के प्रो. विनोद कुमार सिंह के साथ मिलकर संपादित की थी। जर्मन विद्वान थॉमस मेयर की पुस्तक का अनुवाद विनोद जी ने किया था, जो 'सामाजिक लोकतंत्र – एक परिचय' शीर्षक से छपी। राष्ट्र सेवादल, उत्तर भारत सम्मेलन (7-8 नवंबर 2012) के अवसर पर प्रकाशित स्मारिका 'सुनहरा समतावादी भारत' के संपादक मंडल के वह वरिष्ठतम सदस्य थे। सोशलिस्ट फ्रंट और राष्ट्रसेवा दल के साथियों से भी वह अभिन्न रूप से जुड़े थे और उन्हें मार्गदर्शन देते रहते थे।

विनोद जी में साथीपना की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। कार्यकर्ताओं के रहने-खाने पर वह तन्मयता से ध्यान देते थे। उनका घर हमेशा कार्यकर्ताओं से भरा रहता था। समाजवादी जनपरिषद का कार्यालय भी पहले उनके घर पर ही था। मुख्यमंत्री नीतिश कुमार ने उनके आवास पर आकर अपनी श्रद्धांजलि दी। राजकीय सम्मान के साथ उनकी अंत्येष्टि संपन्न हुई। विनोद जी अपने पीछे पत्नी, दो बेटियां और भतीजों का भरा-भूरा परिवार छोड़ गए हैं। बचपन से ही विनोद जी की सेवा-सुश्रूषा करनेवाले काली का जिक्र करना जरूरी है। काली विनोद जी की सारी जरूरतों की देख-रेख करते थे। विनोद जी का अपना एक अत्यंत समृद्ध पुस्तकालय है। इसके सार्वजनिक उपयोग से वैचारिक दारिद्र्य को कम किया जा सकता है और बौद्धिक शून्यता को भरा जा सकता है।

:— मुजफ्फरपुर, फोन 09470268745

## 2

# जाना एक खांटी समाजवादी का

## अरविंद मोहन

विनोद भाई या 'भाई साहब' प्रो. विनोदानन्द प्रसाद सिंह के लिए कभी मृत्यु लेख भी लिखना होगा यह बात सपने में भी नहीं आती थी। पर सुरेन्द्र मोहन जी की शोक सभा में वे जिस अवस्था में आए थे और आवाज के सहारे मुश्किल से पहचान पाए

तथा बाद में लगातार स्वास्थ्य संबंधी जो खबरें मिलती रहीं उनसे लगता है कि मौत के चलते उनको कष्टों से मुक्ति ही मिली है। वे सचमुच बहुत कष्ट में थे—काफी समय से थे। पर जब तक हिम्मत और लगन के चलते काम करना संभव हुआ वे हमारी जमात के

सभी लोगों को डांट-फटकार और प्रेम से और ज्यादा जोर-शोर से काम कराने में ही लगे रहे। पटना जाकर बसने के बाद उनसे नियमित सम्पर्क कम हुआ वरना दिलशाद गार्डन, दिल्ली वाले घर में रहते समय या उससे पहले उनकी मौजूदगी का अहसास लगभग रोज वाले अन्दाज में होता था। बल्कि वे उन चन्द लोगों में थे, जिनसे हमें दिल्ली में ताकत मिलती थी।

विनोद भाई खांटी समाजवादी थे। समाजवादी पार्टी, डीसीएम के मजदूर संगठन और जार्ज साहब के साथ काम करने वाले दौर में उन्होंने कभी निजी संपत्ति बनाने जैसा सोच नहीं रखा। बाद में घर के नाम पर कुछ लिया भी तो एक कमरे का फ्लैट जिसे पटना जाते हुए काफी सस्ते में बेचकर चले गए। अपने बहुत सारे समाजवादी सीनियरों और खास कर बिहार के वरिष्ठ साथियों के विपरीत भाई साहब में जाति और मजहब वाला भाव एकदम नहीं था। बड़ी बेटी की शादी के अलावा उन्होंने जाति की परवाह कभी किसी मामले में की हो, यह याद नहीं आता। बल्कि इसी चक्कर में उन्होंने अपनी बिरादरी के प्रभुत्व वाली विधानसभा सीट का चुनाव भी गंवा दिया क्योंकि उन्होंने बिरादरी के ठेकेदारों की मांग के अनुसार काम नहीं किया।

मुझे उनके संपर्क में आने का अवसर उसी समय मिला जब वे जार्ज साहब के यहां से निकलने वाली पत्रिका 'प्रतिपक्ष' का सम्पादन कर रहे थे। हमने भी वहां लिखना शुरू किया था। पंजाब में आर्मी एक्शन के बाद जब हम कई लोग एक समूह में पंजाब गए और एक नागरिक रिपोर्ट की तरह का कुछ तैयार किया तो वायदा करके भी जनसत्ता ने उसे नहीं छापा। तब मैं जनसत्ता में ही काम करता था। विनोद भाई ने वह पूरी रिपोर्ट दो अंकों में छापी थी। अर्थशास्त्र के अध्यापक विनोद भाई अपना विषय और राजनैतिक अर्थशास्त्र कितना अच्छा जानते थे, इसे प्रो. कमलनयन काबरा जैसे उनके सहपाठी याद करते हैं।

जार्ज साहब के साथ मतभेदों के चलते भाई साहब ने प्रतिपक्ष छोड़ा, पर एक पत्रिका निकालने का जुनून उन पर रहा। जब उन्होंने इस बारे में फैसला करने के लिए कुछ साथियों की बैठक बुलाई तो उसमें सम्भवतः अकेले मैंने ही ऐसा न करके सामयिक वार्ता को ही मजबूत करने की बात की थी। इस पर भाई साहब और गुरुजी (गुरुकृपाल सिन्हा) थोड़ा नाराज भी हुए थे। मुझे यह खतरा भी लग रहा था कि पड़ोस

से पत्रिका निकली तो नौकरी और वार्ता के काम के साथ एक और नियमित और बड़ा काम मेरे साथ जुड़ जाएगा। साथी प्रेम सिंह जब तक दिल्ली रहे तब तक हम लोग कम काम करके भी बच जाते थे पर उनके शिमला चले जाने और कई वर्ष टिक जाने के बाद हरिमोहन और मुझ पर नया संघर्ष का भी काम काफी आ गया। पर उसी क्रम में भाई साहब की समझ, उनकी निष्ठा, उनके श्रम और स्नेह का भी ठीक से पता चला। इसी दौरान उन्होंने बयालीस आंदोलन की स्वर्ण जयंती पर दो अंक, तिब्बत का अंक, मधुजी पर अंक समेत जो कई विशेषांक निकाले वे अद्भुत हैं। बल्कि उतनी मौलिक सामग्री कई किताबों को मिलाकर नहीं मिलती। इस काम में हरिदेव शर्मा जी ने भी काफी मदद की थी। हम सब जानते हैं कि अंततः जब पत्रिका बन्द हुई तो सारे ग्राहक समेत सब कुछ वार्ता से जुड़ गया।

इससे पहले भाई साहब ने सुनीलम के साथ मिलकर समाजवादी आंदोलन के दस्तावेजों के दो खंड हिंदी में निकलवाए थे। इसमें भी हरिदेव जी और मधुजी की मदद थी। हमने उसके अनुवाद, प्रूफरीडिंग और संपादन में कुछ मदद की थी। मेरा अनुमान है कि उस प्रोजेक्ट में कुछ पैसे लाभ के रूप में आए जिनका उपयोग दिलशाद गार्डन में एक कमरे का मकान लेने में हुआ। इसका उद्देश्य निश्चित जगह पर लिखने-पढ़ने की जगह बनाने के लिए था पर यह अंततः घर-दफ्तर सब बना।

भाई साहब का गठिया और फिर मानसिक अवसाद का रोग तभी परेशान करने लगा था। पर इस बीच हम लोगों का माध्यम हो या बाकी राजनीति की दिशा से मोहभंग, भाई साहब ने समाजवादी जन परिषद की सदस्यता ले ली। विष्णुदेव गुप्त जी की तरह उन्हें भी लगा कि अब बहुत हवाई सपने छोड़कर जमीनी राजनीति और पूरे मन की राजनीति की जाए। जब वे परिषद में सक्रिय थे तो पटना रहने और बीमारी के बावजूद काम व्यवस्थित चला। वे पार्टी के अध्यक्ष भी हुए, पर निरंतर गिरते स्वास्थ्य ने उनको मजबूर किया कि वे मन का काम पूरा न कर पाए और अंततः आठ फरवरी की रात भाई साहब कभी वापस न आने की राह पर निकल गए। उनका काम ही नहीं उनके सपने भी अधूरे हैं और सभी साथियों पर दबाव बनाते रहेंगे।

:- जनसत्ता अपार्टमेंट, सेक्टर-9, वसुंधरा, गाजियाबाद (उप्र), फोन 09811826111

# नरेगा के नक्सलवादी

राकेश दीवान

आखिर बड़वानी के कलेक्टर ने भी अपनी जिम्मेदारी निभा ही दी। उन्होंने भी भ्रष्टाचार, अन्याय और दमन के खिलाफ लड़ने वालों को, अपनी बिरादरी के कतिपय प्रशासकों की तर्ज पर, नक्सलवादी होने का तमगा दे ही दिया। ठीक अपने दूसरे संगी-साथियों की तरह पहली बार कलेक्टर बने श्रीमन शुक्ला ने भी, अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवा का ककहरा सीखते हुए, 'मनरेगा' में व्याप्त भारी भ्रष्टाचार पर उंगली उठाने वाले 'जागृत आदिवासी दलित संगठन' पर नक्सलवादी होने की तोहमत लगा दी है। इसी प्रशासनिक सेवा के वरिष्ठ कारिंदे संभागायुक्त ने, बिना अपनी तरफ से कोई छान-बीन किए, इस पत्र को आगे यानी राजधानी भोपाल के आला अफसरों को रवाना कर दिया है।

हुआ यह कि मध्यप्रदेश के आदिवासी-बहुल बड़वानी जिले में 'जागृत आदिवासी दलित संगठन' काफी समय से अन्य मुद्दों के साथ मनरेगा में भ्रष्टाचार, मजदूरी भुगतान में देरी और दूसरी अनियमितताओं को लेकर संघर्ष करता रहा है। इसके सतत संघर्ष के कारण प्रदेश में यह एक मात्र जिला है जहां 15 दिन में रोजगार न दे पाने के कारण प्रशासन को मजदूरों को भत्ता देना पड़ा है, नहीं तो कानून में प्रावधान के बावजूद प्रशासन इसे नहीं देता है। इस जिले में हुई जांच में मनरेगा के 465 करोड़ रूपए के आवंटन में से करीब 150 करोड़ रूपए का घोटाला पकड़ाया है। लेकिन इस मजबूत संघर्ष के कारण भ्रष्टाचार में लिप्त नीहित स्वार्थ वाले बौखला गए हैं। सत्तादल भाजपा से जुड़े कई सरपंच, विधायक और दूसरे भ्रष्ट लोग भी संगठित हो गए हैं और संगठन का विरोध करने लगे हैं। इसी बीच जिला कलेक्टर ने राज्य सरकार को गोपनीय पत्र भेज दिया कि जिले में नक्सलवादी सक्रिय हो रहे हैं। करीब छः महीने पहले इस संगठन की प्रमुख कार्यकर्ता माधुरी बहन के खिलाफ जिला बदर की कार्रवाई का नोटिस भी जारी किया गया था, जिसे प्रबल

जन-विरोध के चलते फिर रोक दिया गया। मजे की बात यह है कि जब पत्रकारों ने इंदौर क्षेत्र की पुलिस महानिरीक्षक अनुराधा शंकर से पूछा तो जबाब मिला कि उन्हें तो इस जिले में नक्सली गतिविधियों की कोई जानकारी नहीं है।

इसके पहले कंसला (होशंगाबाद) में सक्रिय 'किसान आदिवासी संगठन,' हरदा और बैतूल में सक्रिय 'श्रमिक किसान संगठन,' पूर्व में खरगोन जिले में सक्रिय 'आदिवासी मुक्ति संगठन,' डही (धार) के 'एकता परिषद,' अलीराजपुर जिले के 'खेडूत मजदूर चेतना संगठ' और बड़वानी, खरगोन, धार तथा झाबुआ में पिछले 25 सालों से कार्यरत 'नर्मदा बचाओ आंदोलन' जैसे अनेक गैर-दलीय जनसंगठनों पर नक्सली होने के आरोप लगते रहे हैं। क्षणिक खलबली मचाने और यदाकदा जांच के बाद अंत में ये सभी संगठन गैर-नक्सली और उन पर लगे आरोप फर्जी साबित हुए।

लगभग हर साल-दो साल में 'नक्सलवादी-नक्सलवादी' का यह प्रहसन आखिर क्यों होता है? मसूरी के 'मदरसे' में पढ़कर देश की बागडोर संभालने वाले प्रशासनिक अधिकारी पिछले कई सालों से अपने प्रशिक्षण के दौरान ऐसे गैर-दलीय जनसंगठनों और 'एनजीओ' के कामकाज का अध्ययन भी करते हैं। लेकिन लगता है कि इस अध्ययन से उन्हें केवल सरकारी योजनाओं की बदहाली और हर तरह के प्रतिरोध को 'कानून-व्यवस्था' के डंडे से हांकने भर की समझ मिलती है।

आरोप लगाने वाले अनाड़ी अफसर और छुटभड़ए राजनीतिज्ञ नक्सलवाद और उसकी राजनीति के अलावा उन इलाकों की भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों की पड़ताल क्यों नहीं करते जहां उन्हें कथित रूप से नक्सलवाद के बीज मिल जाते हैं?

समूची सत्ताधारी जमात जिसमें कमोबेश प्रशासन, राजनेता और मीडिया सभी शामिल हैं, नए जमाने की राजनीति को अपने पुराने पारंपरिक चश्मे से देखने और फिर उसी को सच मानने की गफलत पाले रहती है। देश के लगातार घटती साख वाले राजनीतिक दलों को जानने-समझने वाली नजर से पिछले करीब 25 सालों में पनपी गैर-दलीय राजनीति आखिर दिखाई भी कैसे देगी ? अधिक-से-अधिक वे उन 'गैर-सरकारी संगठनों' उर्फ 'एनजीओ' को समझते और उनसे संवाद कर सकते हैं जो असल में सरकार और व्यवस्था का ही विस्तार होते हैं।

जनसंगठनों को समझने के लिए किसी भी लोकतांत्रिक ताने-बाने में उभरे और सतत सक्रिय गैर-दलीय प्रयासों की पड़ताल करना जरूरी है। दुनियाभर में सरकारी ढांचे से बाहर ऐसे प्रयास होते रहे हैं। भारत में भी केवल आजादी के आसपास के चालीस-पचास के दशक से ही देखें तो समाज में सरकार और उसके राजनीतिक विपक्ष के अलावा एक तीसरी

ताकत भी हुआ करती थी जिसने गांधी के विचारों के आधार पर गरीबों और वंचितों की सेवा, सहायता और कभी-कभी राहत के काम उठाए थे। 'गांधी स्मारक निधि', 'हरिजन सेवक संघ', 'सर्व सेवा संघ' जैसी संस्थाएं इसी मकसद के लिए बनाई गई थीं। लेकिन सेवा और राहत के काम करने वाले ये समर्पित और निष्ठावान समूह गरीबी और शोषण को समाप्त नहीं कर पाए। वजह साफ थी—'बीमारी' को खत्म करने की बजाए ये समूह 'बीमारों' की सेवा तो करते रहे, लेकिन नतीजे में 'बीमारी' तेजी से बढ़ती गई।

पचास के दशक के अंत और साठ के दशक की शुरुआत में इन गैर-सरकारी समूहों से जुड़े कई लोगों ने सेवा की बजाय विकास की गतिविधियां शुरू कीं। उनका मानना था कि गरीबों का विकास होगा तो 'बीमारी' पर भी काबू पाया जा सकेगा। कृषि, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के विकास को लेकर कई स्वयंसेवी संस्थाओं ने अपने-अपने स्तर पर गांव-गांव

में काम शुरू किए, लेकिन विकास का यह तिलिस्म जल्दी ही टूट गया। वजह थी—हमारे समाज का वर्गों और जातियों में विभाजन। विकास की किसी भी योजना का लाभ इन तीखे विभाजनों के कारण असली वंचितों व गरीबों तक नहीं पहुंच पाया।

गांधी के विपरीत नेहरू के पश्चिमीकृत विशालकाय मशीनों और उन्नत-बाजारु खेती पर आधारित विकास के मॉडल की भद्दे पिटने का परिणाम ही था जिसने साठ के दशक के अंत और सत्तर के दशक की शुरुआत में बंगाल के नक्सलवादी गांव से उपजे नक्सलवादी आंदोलन को जन्म दिया। वर्गों के बीच लगातार बढ़ती गहरी और अश्लील खाई ने ग्रामीण समाजों में नक्सलवादियों को अप्रत्याशित समर्थन भी दिलाया। सत्तर के दशक का यही वह दौर था, जब विकास कार्यक्रमों के जरिए समाजसेवा

में लगे गैर-सरकारी संगठनों में से कइयों ने जयप्रकाश नारायण के अहिंसक वर्ग संघर्ष में भागीदारी की। इसी दशक में पहली बार आपातकाल लगा और बाद में पहली गैर-कांग्रेसी सरकार भी बनी।

---

यह एक नए तरह की राजनीति थी जिसमें उंडों, झंडों और नेताओं से ज्यादा महत्व आम लोगों के प्रयासों को दिया जाता है। लेकिन मौजूदा राजनीतिक एवं प्रशासनिक जमातों को आदिवासियों, किसानों से सीधे सवाल-जवाब सुनने की आदत नहीं रहती।

---

राहत, सेवा और विकास के कामों में लगे गैर-सरकारी संगठनों के लिए यह दौर अपनी राजनीतिक समझ बढ़ाने का रहा। इस प्रशिक्षण ने उन्हें अस्सी और नब्बे के दशक में गैर-दलीय राजनीतिक समूहों के गठन करने और गांधी के अहिंसक सत्याग्रह की मार्फत आम लोगों को अपने हकों के प्रति सचेत करने के लिए तैयार किया। इसी दौर में मध्यप्रदेश में 'नर्मदा बचाओ आंदोलन', 'खेडूत मजदूर चेतना संगठ', 'जागृत आदिवासी दलित संगठन,' 'किसान आदिवासी संगठन' 'श्रमिक आदिवासी संगठन', 'बरगी बांध विस्थापित संघ' जैसे जनसंगठनों का गठन हुआ।

अपने-अपने इलाकों की विशिष्ट समस्याओं पर आम ग्रामीणों व आदिवासियों को गोलबंद करने में लगे इन जनसंगठनों में अब्बल तो यह बात समान रही कि उन्होंने गांधी के अहिंसक सत्याग्रह के

हथियार का उपयोग किया। **दूसरे**, देशी-विदेशी दानदाताओं से मिलने वाली धनराशि से परहेज करते हुए उन्होंने स्थानीय लोगों, ग्रामीणों और सरोकार रखने वाले मित्रों की सहायता से अपनी गतिविधियां जारी रखीं। **तीसरे**, इन जनसंगठनों से जुड़े कार्यकर्ताओं ने कड़ाई से अपने निजी जीवन और खर्चों पर नियंत्रण रखा।

यह एक नए तरह की राजनीति थी जिसमें डंडों, झंडों और नेताओं से ज्यादा महत्व आम लोगों के प्रयासों को दिया जाता है। लेकिन मौजूदा राजनीतिक एवं प्रशासनिक जमातों को आदिवासियों, किसानों से सीधे सवाल-जवाब सुनने की आदत नहीं रहती। बड़वानी में भी आम आदिवासियों द्वारा अपना संगठन बनाकर प्रशासन से सवाल करना

प्रशासन को नागवार गुजरा। खुद सरकारी जांच में उजागर होते 'मनरेगा' के भ्रष्टाचार का वैध हिसाब देने की बजाए कलेक्टर ने हिसाब मांगने वालों को ही नक्सलवादी करार दे दिया।

सत्ता की राजनीति से भिन्न इस आम नागरिकों की राजनीति को समझ पाने में राजनेता और प्रशासनिक अमला बार-बार खुद को नकारा साबित कर रहा है। वे अपनी नादानी में किसी भी अहिंसक प्रतिकार को नक्सली बताने के लिए उतावले दिखते हैं, जबकि आम नागरिकों ने अब जनसंगठनों से भी आगे की राजनीति शुरू कर दी है।

19, शिप्रा कांप्लेक्स, चक्की चौराहा,  
तुलसीनगर, भोपाल (म.प्र.)  
फोन : 09826066153

## नीतीश राज में भ्रष्टाचार

- अनिल सिन्हा, अवधेश झा

भ्रष्टाचार भारतीय राजनीति की सबसे बड़ी विसंगति है, आजादी के वक्त से ही भारतीय राजनीति ने इस विसंगति को झेला है। केंद्र सरकार में व्याप्त भ्रष्टाचार के मामलों ने तो संपूर्ण विश्व में भारत की प्रतिष्ठा को धूमिल किया ही है, परंतु राज्य के सत्ता शीर्ष पर बैठे मुख्यमंत्रियों ने भ्रष्टाचार पर निर्भर परजीवी की तरह ही व्यवहार किया है। बिहार में पिछले 7 वर्षों से सत्ता की बागडोर संभाल रहे नीतीश कुमार अब तक अपने संकल्पों और संस्कारों के दम पर व्यक्तिगत दामन पाक-साफ बचा रखने में सफल रहे हैं।

आज देश के विभिन्न राज्यों के मुख्यमंत्री या पूर्व मुख्यमंत्री पर घोटाले के केस चल रहे हैं जिसके कारण या तो वे जेल के अंदर है या बेल पर बाहर। ऐसे में नीतीश कुमार का व्यक्तिगत दामन साफ होना बिहारवासियों के लिए राहत की बात है। वैसे तो राजनयिकों का दूसरा घर बनता जा रहा है तिहाड़ और तमाम जेल, परंतु आज हम सिर्फ उनकी बात करेंगे जो किसी राज्य की सत्ता के सिरमौर हैं या रह चुके हैं। अगर हम घोटालों

की फेहरिस्त पर एक नजर डालें तो पाएंगे कि अधिकाधिक चर्चित बड़े घोटालों में संबंधित राज्यों के मुख्यमंत्री दोषी रहे हैं।

सत्ता के शीर्ष पर व्यक्तित्व को चुंधिया देने वाली स्पाटलाइट में रहते हुए, बिहार में सामने आ रहे नित नए घोटालों से परेशान मुख्यमंत्री ने तो एक बारगी यहां तक कह दिया कि उन्होंने साइकिल खरीदने के लिए बाउचर स्कीम इन्हीं कारणों से शुरू की थी ताकि फिर कोई घोटाला न हो जाए, परंतु क्या इस प्रकार की सावधानियों से नीतीश कुमार पूरे बिहार में चल रही दर्जनों जन-कल्याणकारी योजनाओं में व्याप्त भ्रष्टाचार को रोक पाएंगे ? मनरेगा, परिवार नियोजन लाभ योजना, महादलित विकास समेत अनेकानेक योजनाएं बिचौलिए और भ्रष्ट सरकारी अधिकारियों की भेंट चढ़ रही हैं। इससे सरकार की प्रशासनिक दक्षता पर तो सवाल तो उठ ही रहे हैं साथ ही आम जनता अब सुशासन की नीयत पर ही संदेह करने लगी हैं।

**मनरेगा घोटाला-** मनरेगा, इंदिरा आवास जैसे



लोक-कल्याणकारी योजनाओं में पंचायत, ब्लाक और जिला स्तर पर अनियमितता, भ्रष्टाचार, राशि गबन और पैसे की बंदरबाट की गंभीर आरोप लगे। सूचना के अधिकार के सक्रिय प्रहरियों और राज्य सूचना आयुक्त फरजान अहमद की सक्रियता से इन घोटालों का पर्दाफाश हो सका। तत्पश्चात मुख्यधारा मीडिया में समाचारों के प्रमुखता से आने से दबाव बढ़ा और जिलाधिकारी स्तर से जांच शुरू हो सकी। सिर्फ मनरेगा में 6000 करोड़ की अनियमितता के आरोप लगे हैं। हालांकि विपक्ष भी नीतीश कुमार पर इस घोटाले में उनकी व्यक्तिगत संलिप्तता के आरोप नहीं लगा पाता है। परंतु इस पूरे प्रकरण से सुशासन की भ्रष्टाचार के प्रति जीरो टोलरेंस की नीति महज मरीचिका ही प्रतीत होती है।

दिल्ली की संस्था सेंटर फार एनवायरनमेंट एंड फूड सक्विोरिटी ने सर्वोच्च न्यायालय में एक याचिका दाखिल कर बिहार मनरेगा में व्याप्त भ्रष्टाचार पर सीबीआई जांच करवाने की मांग की है। इस संस्था की जांच रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 2006-07 से वर्ष 2011-12 के छह वर्षों में बिहार में मनरेगा के लिए मिले 8189 करोड़ रूपए में 72 प्रतिशत भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ गए। इस प्रकार 6000 करोड़ रूपए की गबन राशि का कोई पता नहीं। निःसंदेह इतने बड़े पैमाने पर गबन के आरोपों को हल्के में नहीं लिया जा सकता। राज्य के तारणहार नीतीश कुमार की व्यक्तिगत साफ-सुथरी छवि पर भारी पड़ती इन गबन राशि की मोटी किश्त कहीं सत्तारूढ़ दल की किश्ती को न डुबो दे।

**महादलित योजना-** वर्ष 2009-10 में इस योजना के अंतर्गत राज्य के हर महादलित को सरकार की ओर से मकान (इंदिरा आवास योजनांतर्गत) बनाने के लिए 1307 वर्गफुट (लगभग एक कट्टा) जमीन देने की घोषणा की गई। हर पंचायत और ब्लाक स्तर पर गैर-मजरूआ जमीन की तलाश की जानी थी। और जमीन की उपलब्धता नहीं होने पर अधिकतम 20,000 रूपए की लागत से निजी हाथों में जमीन खरीदने की प्रक्रिया तय हुई। यह पूरी योजना को अधिकारियों की मिली भगत से बिचौलियों ने हाईजैक कर लिया। ज्यादातर जिलों में गैर-मजरूआ या सरकारी जमीन उपलब्ध होने के बावजूद निजी हाथों से जमीन खरीदी गई। सुदूर

ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसी जमीन जिसकी कीमत 2000 हजार रूपए भी नहीं थी, बिचौलियों द्वारा खरीद ली गई और एक सप्ताह बाद ही उसे सरकारी योजना के लिए 20,000 रूपए तक में बेचा गया। भूमि निबंधन कार्यालय के रिकार्ड से मिली जानकारी ने इन आरोपों की पुष्टि की।

मनरेगा और तमाम जन-कल्याणकारी योजनाओं का पैसा सीधे धारक के खाते में जमा करने की महत्वाकांक्षी योजना नीतीश की अगुआई में शुरू की गई थी। भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाने में एक हद तक कामयाब होती इ-शक्ति योजना का अचानक बंद हो जाना बिहार में अधिकारी बिचौलियों की मिलीभगत लगता है और शासनतंत्र में उनकी निर्णायक भूमिका में आने की ओर इशारा करता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि सरकार के कैबिनेट मंत्रियों का दामन भी पाक-साफ नहीं है। यह निश्चित है कि अगर सरकार सचेत होती तो गर्भाशय घोटाला, एसीडीसी बिल सहित जमीन घोटालों में भी सरकार को कठघरे में खड़ा नहीं होना पड़ता।

नीतीश कुमार के भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाने के फैसले ने समय-समय पर अपना प्रभाव भी दिखाया है। पिछले महीने ही बिहार में पहली बार प्रवर्तन निदेशालय के कड़े कदम उठाते हुए भ्रष्टाचार के आरोप में चार वरिष्ठ अधिकारियों के खिलाफ प्राथमिकी दर्ज कराई है। जिसमें संधिल कुमार, आईएएस का भी नाम है। इन सभी के खिलाफ आय से अधिक संपत्ति रखने और नियमों को दरकिनार कर काम करने के स्पष्ट सबूत हैं। इससे पहले के वर्षों में भी नीतीश कुमार के नेतृत्व में दो अधिकारियों पर शिकंजा कसा गया, उनकी संपत्ति जब्त हुई। पर इन सबके बावजूद इन सभी प्रयासों के आकार राज्य में व्याप्त भ्रष्टाचार के सामने बौने मालूम पड़ते हैं।

इसलिए आवश्यकता है कि ये प्रयास मात्र प्रतीकात्मक न होकर उदाहरण बनें। स्थिति की गंभीरता को समझते हुए नीतीश कुमार को कुछ कड़े कदम उठाने की जरूरत है, क्योंकि चिंगारी को आग बनते तब देर नहीं लगती जब राजनीतिक अर्थ से फर्श पर आए लोग हवा के झोंके देने को तैयार बैठे हों।

# जन सहयोग से शिक्षा का मंथन

राजीव बामने

राजस्थान के झालावाड़ जिले के अंतर्गत आने वाली मनोहर थाना तहसील है, उससे करीब 15 किमी की दूरी पर प्राकृतिक वादियों के बीच पहाड़ों से घिरा हुआ एक गांव है झिरी, जहां विगत 11 वर्षों से शिक्षा के साथ-साथ व्यक्तित्व के संपूर्ण विकास के उद्देश्य से मंथन नामक विद्यालय चल रहा है।

इस विद्यालय की शुरुआत 'हम किसान' नामक संगठन के देवेन्द्र भाई एवं सुधि बहन सहित अनेक कार्यकर्ताओं ने मिलकर की है। सरकारी स्कूलों की बिगड़ती हालत को तमाम प्रयास करने के बाद भी जब सुधारा नहीं जा सका, तो उसके विकल्प के रूप में व्यवस्था के सामने एक आदर्श प्रस्तुत करने के सफलतम प्रयास के रूप में इसकी अपनी पहचान है।

देवेन्द्र भाई ने विद्यालय के लिए अपनी जमीन दान कर दी है। मंथन शाला का प्रारंभ इसी जमीन पर एक छोटे से भवन के निर्माण से की गई थी। स्कूल का यह भवन कार्यकर्ताओं द्वारा दान की गई, सामग्री एवं श्रमदान से बनाया गया था।

शुरुआत में इस विद्यालय में मात्र 13 विद्यार्थी थे। आगे चलकर यहां वर्तमान में 169 विद्यार्थी हैं। लाईब्रेरी भवन, कंप्यूटर, संगीत सामग्री, खेल सामग्री, विज्ञान के उपकरण, छात्रावास आदि सुविधाएं दान में मिली हैं। और विद्यालय के पास खेत, कुआं, भैंस, बगीचा आदि सुविधाएं उपलब्ध हो चुकी हैं।

बालिकाओं की शिक्षा के लिए यहां विशेष प्रयास किए जा रहे हैं। इसके तहत छात्रावास में रहने वाली छात्राओं से मात्र 100 रु. वार्षिक लिया जाता है। जबकि छात्रों से यह 500 रु. महीना। इतना ही नहीं गांव से आने वाली लड़कियों को शाला में निःशुल्क शिक्षा दी जाती है। इनके स्थान पर लड़कों से 50 रु. महीना लिया जाता है। इसी के परिणाम स्वरूप यहां बालिकाएं बालकों से अधिक दर्ज हैं।

विद्यालय में पढ़ने वाले बच्चों को ग्रीटिंग कार्ड बनाना, संगीत, नाटक, खेलकूद सीखने का भी

मौका मिलता है। इसके अलावा घर के रोजमर्रा के कामों को भी सीखते हैं, जैसे झाड़ू, गोबर फेंकना, मिट्टी की छबाई, बर्तन साफ करना आदि शामिल है। हथकरघा भी शाला में उपलब्ध है।

पढ़ाने के लिए देवेन्द्र भाई, सुधि बहन, हीरालाल के अलावा पांच अन्य स्टाफ हैं जो सादगीपूर्ण तरीके से अपनी सेवाएं दे रहे हैं। इनमें से अनेक शिक्षक ऐसे हैं जो उसी विद्यालय से पढ़कर निकले हैं।

मंथन शाला के छात्रावास में 40 विद्यार्थी रहते हैं, बाकी सभी आना-जाना करते हैं। स्कूल सुबह 8 बजे से दोपहर 2 बजे तक चलता है। क्लासरूम की कोई आवश्यकता नहीं है, ड्रेस पर भी कोई विशेष जोर नहीं दिया जाता है। इनके बिना ही पेड़ के नीचे चबूतरे पर कक्षाएं संचालित हो रही हैं। साधारण भोजन, दलिया, चाय या दूध दिया जाता है।

मंथन में आने वाले बच्चे यहां रहकर काफी उत्साहित नजर आते हैं, उनके अंदर एक उमंग है, वे किसी भी बाहरी व्यक्ति से शीघ्र ही घुल मिल जाते हैं और उनसे कुछ सीखने की कोशिश करते हैं।

सरकारी स्कूल की औपचारिकता भरी शिक्षा के मुकाबले मंथन एक तरह से शाला व्यवस्था को करारा जबाव है। लगातार सरकारी आडंबर को नकारते हुए लोगों ने इस स्कूल को अपने बच्चों के भविष्य निर्माण के लिए उपयुक्त माना है। लगातार इस मंथन शाला की लोकप्रियता बढ़ती जा रही है।

सरकार की इच्छाशक्ति की पहचान इस बात से हो जाती है कि वह वास्तव में शिक्षा पर कितना ध्यान दे रही है, और उनकी प्राथमिकताएं कैसी हैं और सरकार के सभी प्रयास मात्र एक औपचारिकता साबित हो रहे हैं। इस तरह लोगों के सहयोग पर आधारित शिक्षा व्यवस्था सरकार को एक चुनौती प्रस्तुत करती है।

ग्राम पोस्ट केसला,  
जिला होशंगाबाद (म.प्र.) 461111  
फोन : 09575353023

## नारी जागृति की सुगबुगाहट

# संघर्ष और निमार्ण

**मध्यप्रदेश, इटारसी।** पिछले दिसंबर माह में दिल्ली में हुई बर्बर वहशीपन की जघन्य घटना ने पूरे देश को झकझोर दिया। देश का हर कोना इस घटना से आहत हुआ। सबको सोचने को मजबूर कर दिया। इसी तारतम्य में मध्यप्रदेश के इटारसी शहर में भी कुछ सुगबुगाहट हुई। स्थानीय परशुराम भवन में 30 दिसंबर 2012 को एक विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया। इसका विषय था— महिलाओं पर बढ़ते अत्याचार और हमारा दायित्व। इस गोष्ठी में काफी अच्छी संख्या में लोगों ने भाग लिया। महिलाओं की काफी बड़ी संख्या थी। चर्चा में उन्होंने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। अध्यक्षता नगर की शिक्षिका दीपाली शर्मा ने की और चर्चा की शुरुआत एक दूसरी शिक्षिका मृदुला चौधरी ने की। गोष्ठी में कई गृहिणियों, पार्षद, नगरपालिका उपाध्यक्ष, प्राध्यापकों आदि ने भी शिकरत की।

चर्चा में कई तरह की बातें सामने आईं। कानून व्यवस्था सख्त हो, लेकिन समाज की मानसिकता भी बदलने की जरूरत है। महिलाओं के प्रति भेदभावपूर्ण रवैया को बदलना होगा। जो यह कह रहे हैं कि महिलाओं को रात को घूमने की क्या जरूरत है या महिलाओं के पहनावे से ऐसी घटनाएं होती हैं, वे गलत कह रहे हैं। पहनावा शालीन हो तो अच्छा है, लेकिन पहनावे से ऐसी घटनाओं का कोई संबंध नहीं है। खोट कपड़ों में नहीं नीयत में है। यदि कपड़ों के कारण बलात्कार होता है तो 4 साल की बच्ची और 65 साल की वृद्धा के साथ क्यों बलात्कार हो रहा है? चर्चा में समाज में आम तौर पर प्रयोग होने वाली गालियों पर भी सवाल उठा। ज्यादातर गालियां स्त्रियों को लक्ष्य करके दी जाती हैं। आपका झगड़ा किसी पुरुष से हो, लेकिन उसकी मां, बहन और

बेटी का क्या गुनाह है? और ये गालियां केवल गुस्से में ही नहीं, बड़े मजे से गपशप और हंसी मजाक में भी इस्तेमाल की जाती हैं। कई लोगों का तो वे तकियाकलाम बन गई हैं। इनसे स्त्रियों का सम्मान आहत होता है।

मीडिया, विज्ञापनों, टीवी सीरियलों, फिल्मों, मोबाईल, इंटरनेट आदि में बढ़ती अश्लीलता पर भी चर्चा हुई। बच्चों को अच्छे संस्कार देने और संस्कारयुक्त शिक्षा देने पर जोर दिया गया। अंत में यह महसूस हुआ कि इन सारे मुद्दों पर काम करने के लिए एक संगठन बनाना चाहिए। महिलाओं पर अत्याचार केवल दिल्ली में ही नहीं, हमारे आसपास भी हो रहे हैं। यहां भी कुछ करने की जरूरत है।

इस उद्देश्य से एक सप्ताह बाद 6 जनवरी 2013 को परशुराम भवन में ही फिर बैठक बुलाई गई। फिर काफी चर्चा के बाद सर्वसम्मति से 'नारी जागृति मंच' का गठन हुआ। तदर्थ रूप से दीपाली शर्मा को अध्यक्ष और सुजाता साव को सचिव बनाया गया। यह तय हुआ कि एक-एक वार्ड में बैठक कर वार्ड स्तर पर भी गठन किया जाए और लोगों में जागृति लाई जाए। यह भी तय किया गया कि इस संगठन में पुरुषों की भी भागीदारी हो। महिलाओं पर अत्याचार और उनके प्रति भेदभाव रोकने के लिए महिलाओं और पुरुषों दोनों को मिलकर काम करना होगा। पुरुषों के अलावा कई बार औरतें भी औरतों पर अत्याचार करती हैं। जरूरत पूरे समाज की मानसिकता और स्त्री विरोधी परंपराओं व मान्यताओं को बदलने की है। समाज में सुधार के लिए स्त्री पुरुष दोनों का सहयोग जरूरी है।

इसी योजना के तहत 20 जनवरी को वार्ड नं. 13 और वार्ड नं. 17 में बैठक हुई। बैठकों में वार्ड स्तर पर संयोजक व

सचिव बनाए गए तथा समितियां बनाई गईं। नारी जागृति मंच की सदस्यता भी चलाई जा रही है। आगे चलकर इस संगठन को जिले स्तर पर और फिर प्रदेश स्तर पर खड़ा करने की भी योजना है।

8 मार्च को अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस पर महिलाओं से संबंधित मुद्दों को लेकर एक बड़ा कार्यक्रम करने की तैयारी चल रही है।

— विद्या मिश्रा

## लोकतंत्र और समाजवाद परस्पर पूरक हैं

**बिहार, सासाराम, औरंगाबाद।** लोकतंत्र का मतलब केवल चुनाव नहीं होता। इसमें लोक की समस्याओं, इच्छाओं और आकांक्षाओं का समाधान होना चाहिए। लेकिन आज भारत में लोक और तंत्र के बीच चौड़ी खाई पैदा हो गई है। इसके लिए चार कारण जिम्मेदार हैं। **एक**, हमारा ढांचा काफी केंद्रीकृत है। इसमें सत्ता के केंद्र जनता से बहुत दूर है। **दो**, समाज में काफी गैर बराबरी है। हमारे संविधान में निहित 'एक व्यक्ति, एक वोट' का सिद्धांत तब निष्प्रभावी हो जाता है जब धन शक्ति के चलते एक व्यक्ति सैकड़ों हजारों वोटों को नियंत्रित करने लगता है। **तीन**, बाजारवाद और देशी-विदेशी कंपनियों के बढ़ते वर्चस्व के कारण लोकतंत्र की चाबी जनता के हाथ में न रहकर कंपनियों के हाथ में जा रही है। **चार**, जाति और सांप्रदायिकता के कटघरे कमजोर होने के बजाए मजबूत हो रहे हैं। इसलिए लोकतंत्र को सफल बनाने के लिए हमें पूरे ढांचे को बदलना होगा। लोकतंत्र और समाजवाद एक-दूसरे के पूरक हैं। एक के बगैर दूसरा अधूरा रहेगा।

उक्त विचार समाजवादी जन परिषद के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष श्री सुनील ने बिहार में औरंगाबाद, सासाराम एवं मोहनिया में 'भारतीय लोकतंत्र और इसकी चुनौतियां' विषय पर आयोजित तीन विचार-गाष्ठियों में रखे। 23 और 24 जनवरी को सुभाष चंद्र बोस जयंती तथा कर्पूरी ठाकुर जयंती के मौके पर इन गोष्ठियों का आयोजन किया गया था। औरंगाबाद में 23 जनवरी को चित्रगुप्त सभागार में आयोजन

मगधांचल समग्र विकास समिति एवं संपूर्ण क्रांति मंच ने किया था। कार्यक्रम के बाद संजय कुमार श्रीवास्तव, बच्चू प्रसाद सिंह, भीमसिंह यादव, दिल मोहम्मद अंसारी, श्यामसुंदर कुमार ने समाजवादी जनपरिषद में शामिल होकर सदस्यता अभियान चलाने का फैसला किया।

अगले दिन दोपहर 12 बजे सासाराम में समाजवादी जन परिषद ने इसी विषय गोष्ठी का आयोजन किया। इसकी अध्यक्षता सजप के जिलाध्यक्ष नरेन्द्र कुमार ने की और संचालन अरुण कुमार मिश्र 'बागी' ने किया। इसी दिन शाम 3 बजे से मोहनिया (कैमूर) में महाराणा प्रताप महाविद्यालय के सभागार में परिचर्चा हुई जिसकी अध्यक्षता प्राचार्य डा. अनिल कुमार सिंह ने की और संचालन डा. श्याम बिहारी सिंह ने किया। स्वागत पूर्व प्राचार्य चंद्रदीप सिंह ने किया।

श्री सुनील ने इन गोष्ठियों में कहा कि बिहार तो परिवर्तन की धरती है। देश की परिस्थितियां वैसी ही हैं, जैसी 1974 में जेपी के नेतृत्व में हुए आंदोलन के वक्त थी। भ्रष्टाचार, महंगाई, शिक्षा व्यवस्था की विकृतियां, बेरोजगारी, कुशासन और दमन के मुद्दे तब भी थे, आज और विकराल रूप में हैं। आज फिर संपूर्ण क्रांति का आह्वान करने का मौका आ गया है। उन्होंने उपस्थित लोगों से अपील की कि सप्ताह में कम से कम एक दिन या दिन के 24 घंटों में से कम से कम 2 घंटे देश को बचाने के लिए दें।

— संजय कुमार श्रीवास्तव

## ओबरा में कैडल मार्च

**बिहार, औरंगाबाद।** विगत 22 जनवरी 2013 को ओबरा में स्त्री, पुरुष युवाओं ने एक कैडल मार्च शहीद जगतपति स्मारक स्थल खरौती से प्रखंड कार्यालय तक निकला। दलित श्याम सुंदर कुमार को पुलिस द्वारा प्रताड़ित करने के विरोध में इस मार्च का नेतृत्व सजप के रोहतास जिलाअध्यक्ष नरेन्द्र कुमार तथा सजप नेता अरुण कुमार मिश्र बागी ने किया। मार्च के पश्चात राज्यपाल एवं मुख्य सचिव को संबोधित एक ज्ञापन प्रखंड विकास पदाधिकारी को सौंपा गया।

—संजय कुमार श्रीवास्तव

## लोहिया पर दो वेबसाइट

समाजवादी नेता एवं चिंतक डा.राममनोहर लोहिया के बारे में और उनके विचारों के बारे में किताबें आजकल आसानी से नहीं मिलती। ऐसी हालत में अच्छी खबर है कि इंटरनेट पर उनके ऊपर दो वेबसाइट शुरू हुई हैं। एक हैदराबाद से उनके साथ सोमयया रावेला और उनके पुत्र मनोहर रावेला ने शुरू की है। दूसरी बिहार के पूर्व मंत्री भोला प्रसाद सिंह ने प्रारंभ की है। दोनों की लिंक उनकी प्रमुख परिचयात्क पंक्तियों के साथ नीचे दी गई है।

<http://lohiatoday.com/>

डा. राममनोहर लोहिया को उनके समकालीनों द्वारा काफी गलत समझा गया। शायद उनके विचार ज्यादा ही मौलिक थे, जो लोग पूरी तरह समझ नहीं पाए और उनकी स्पष्टवादिता कई लोगों को रास नहीं आती थी।

— लोकनायक जयप्रकाश नारायण

<http://www.lohiavani.com/>

महात्मा गांधी एवं डा. राममनोहर लोहिया चिंतक ही नहीं थे, कर्मयोगी भी थे। मार्क्स जहां आर्थिक विषमता तक ही सीमित रह गए, वहीं डा. लोहिया ने सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक विषमता को भी आधार बनाया। डा. लोहिया ने शोषण के सर्वव्यापी आयामों को उद्घाटित किया और प्रथम बार सप्तक्रांति की अवधारणा प्रतिपादित की। रामायण मेला, नदियों को साफ करो, हिमालय बचाओ का नारा दिया और तिब्बत पर चीनी कब्जे का विरोध किया। विदेश नीति में स्वतंत्र गुटनिरपेक्षता की अवधारणा भी उन्हीं की थी। 1942 के स्वतंत्रता आंदोलन में भूमिगत रहकर आंदोलन को जिंदा बनाए रखा। नेपाल की राणाशाही के खिलाफ भी सर्वप्रथम उन्होंने ही संघर्ष छेड़ा और जेल गए। गोवा को आजाद कराने हेतु जेल गए, तब महात्मा गांधी ने कहा कि डा.राम मनोहर लोहिया जेल में हैं तो मैं। कैसे चैन से बैठ सकता हूं।

## कोयले की धधक से उपजा संगठन

**मध्यप्रदेश, सिंगरौली।** पिछले पांच दशकों से कोयले की धधक को सह रही देश कि विद्युत राजधानी सिंगरौली के जंगलवासियों ने आखिरकर विरोध करने की ठान ली। अब, हम अपने जंगल, खेत, पानी, हवा की और बरबादी नहीं होने देंगे। इस संकल्प के साथ सिंगरौली के महान जंगल क्षेत्र के किसान, आदिवासियों ने 11 फरवरी को 'महान संघर्ष समिति' का गठन किया। सिंगरौली के 'ग्रीन पीस' आफिस में संगठन के गठन के लिए बैठक हुई जिसमें 4 गांव; अमीलिया, बुधेर, बंधवारा, और बरवाहटोला, के 22 महिला, पुरुष कार्यकर्ताओं के साथ, ग्रीन पीस से प्रिया पिल्लई, अक्षय गुप्ता और पंकज सिंग, तथा जनसंघर्ष मोर्चा म.प्र. की ओर से अनुराग मोदी मौजूद थे। सबने महान नामक जंगल बचाने के लिए, " पुरुखों से नाता जोड़ेंगे— जंगल नहीं छोड़ेंगे" के नारे के साथ संगठन बनाने का फैसला लिया।

वर्षों के अनुभव के बाद, आखिरकार ग्रीन

पीस ने भी यह माना कि आदिवासियों के जंगल पर अधिकार सुनिश्चित किए बिना पर्यावरण को बचाने की लड़ाई नहीं लड़ाई जा सकती, तो उसने प्रयोग के तौर पर, दो साल पहले, सिंगरौली के महान क्षेत्र को चुना। ग्रीन पीस ने मई 2012 में अपनी इस मुहिम में जनसंघर्ष मोर्चा को मदद के लिए सम्पर्क किया। आदिवासियों के जंगल पर अधिकार सुनिश्चित करने के, ग्रीन पीस जैसी पर्यावरणवादी संस्था के इस कदम का जनसंघर्ष मोर्चा ने स्वागत किया।

यहां के अनेक कोयला कंपनियों में से एक, 5000 हजार करोड़ रुपए के महान 'कोल लिमिटेड' में आदित्या बिरला ग्रुप की हिंडालको तथा विदेशी कंपनी एस्सार पावर के बीच 50-50 प्रतिशत की हिस्सेदारी है। इस कोल फील्ड और पावर प्लांट से बनने वाली बिजली वो अपने खुद की इंडस्ट्रीज के लिए उपयोग करेंगे। 2001 की जनगणना के अनुसार महान जंगल क्षेत्र में 14 गांवों के 14190 लोग सीधे-सीधे अपनी जीविका के लिए निर्भर हैं; इसमें

अनेक गांवों में 50 प्रतिशत से ज्यादा आदिवासी हैं; कुल 60 गांवों के लोग इस जंगल पर किसी-किसी न किसी रूप में निर्भर हैं; रम्पा और महान नदियों का कैचमेंट एरिया है; इसमें 600 तरह के जंगली जानवर हैं। जैसा अपने देश में आमतौर पर होता है, यहां भी, न तो आज तक इस परियोजना के पर्यावरणीय दुष्परिणामों का अध्ययन हुआ है, और न लोगों के वन अधिकारों का निराकरण।

यहां दो साल से चल रही ग्रीन पीस की मुहिम का ही परिणाम है कि महान कोल फील्ड को पहले स्तर की पर्यावरणीय मंजूरी तो मिल गई, लेकिन 37 शर्तों के साथ। इन शर्तों में, अनेक पर्यावरणीय अध्ययनों के अलावा लोगों के जंगल के अधिकारों का आकलन करने की भी बात है।

मध्यप्रदेश और उत्तर प्रदेश में फौले इस सिंगरौली क्षेत्र में 1961 में रिहंद बांध बनने के साथ तथाकथित विकास का नाटक और विस्थापन का दौर शुरू हो गया था और फिर एक के बाद एक,

अनेक कोल फील्ड और पावर प्लांट यहां आते गए। देश की 10 प्रतिशत बिजली पैदा करने वाले सिंगरौली में नार्थन कोल फील्ड, एनटीपीसी से लेकर रिलायंस, जे. पी. पावर, बिरला, एस्सार, और दैनिक भास्कर समूह के विद्युत पावर प्लांट हैं, या आ रहे हैं। इन कोल फील्ड और पावर प्लांटों के नाम पर देश के संसाधनों की कैसी लूट हो रही है, इसके लिए एक उदाहरण ही काफी है: सासन कोल फील्ड से कोयले के बदले रिलायंस पावर एक निश्चित दर पर बिजली आपूर्ति करेगा, ऐसा करार हुआ। इसमें जब यह पता चला कि रिलायंस पावर को लगभग 29 हजार करोड़ रुपए मूल्य का ज्यादा कोयला दे दिया गया, तो इसे वापस लेने की बजाय, म.प्र. के मुख्यमंत्री शिवराज सिंह की अनुशंसा पर केंद्र सरकार ने रिलायंस पावर को इस कोयले के उपयोग की छूट दे रिलायंस को नाजायज फायदा पहुंचाया। यह बात सीएजी ने अपनी रपट में कही है।

— अनुराग मोदी

## विदेशी पूंजी देश के लिए घातक

**महाराष्ट्र, लातूर, औरंगाबाद, संगमनेर।** हमारे देश में पर्याप्त प्राकृतिक संसाधन हैं, विशाल श्रमशक्ति है, तकनीकी दक्षता है, तब फिर हम क्यों विदेशी पूंजी के पीछे भाग रहे हैं? देश के वार्षिक पूंजी निर्माण में विदेशी पूंजी का योगदान 10-12 फीसदी से ज्यादा नहीं है, लेकिन इसके चक्कर में देश पर निर्भर, गुलाम और बरबाद हो रहा है।

ये विचार समाजवादी जन परिषद के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष सुनील ने महाराष्ट्र के लातूर नगर में आयोजित एक परिसंवाद में रखे। 30 जनवरी को 'खुदरा व्यापार में विदेशी पूंजी' विषय पर इस परिसंवाद का आयोजन समाजवादी जनपरिषद, जसुराज्य पार्टी और भ्रष्टाचार विरोधी जन आंदोलन न्यास ने संयुक्त

रूप से भालचंद्र ब्लडबैंक सभागृह में किया था। सभा में नगर के अलावा बड़ी संख्या में गांवों से भी लोग आए थे।

इसके पहले 29 जनवरी की शाम को औरंगाबाद में समाजवादी जन परिषद ने इसी विषय पर परिचर्चा आयोजित की थी। लातूर के बाद 31 जनवरी को अहमदनगर जिले में संगमनेर व्यापारी संघ ने पड़तानी कांपलेक्स में इस विषय पर सुनील का व्याख्यान आयोजित किया। रात 9 बजे से शुरू हुए इस कार्यक्रम में नगर के व्यापारी, बुद्धिजीवी और कार्यकर्ता बड़ी संख्या में मौजूद थे। व्याख्यान के बाद सवाल-जबाब का सिलसिला देर रात तक चलता रहा।

—बाल होलिकर, सुभाष लोमटे, अनिल शिंदे

## ओलावृष्टि से नुकसान

**मध्यप्रदेश, होशंगाबाद।** 15 फरवरी की शाम को होशंगाबाद जिले के केसला, सोहागपुर और सिवनीमालवा विकासखंड में कई जगह भारी ओलावृष्टि हुई, जिससे फसलों, घरों, मवेशियों को काफी नुकसान पहुंचा। राह और मुआवजे की मांग को लेकर आदिवासी

स्त्री-पुरुषों ने अगले दिन सुखतवा में राष्ट्रीय राजमार्ग पर साढ़े तीन घंटे तक चक्का जाम किया। सजप नेता एवं जिला पंचायत सदस्य फागराम, इटारसी कृषि उपज मंडी उपाध्यक्ष सोहन मालवीय ने प्रभावित गांवों का दौरा किया।

—फागराम

# काबिले तारीफ जुनून वाला एक समाजवादी

## विनोद बाबू को श्रद्धांजलियों का सिलसिला

**बिहार, पटना।** विनोदबाबू बिहार की भूमि के आखिरी समाजवादी थे जिनकी उपस्थिति से समाजवाद की पूरी परंपरा का अहसास होता था। लोहिया से लेकर कर्पूरी ठाकुर तक समाजवादियों में संपत्ति और धन के प्रति उदासीनता रही, उसकी छाप विनोद बाबू में मिलती थी। समाजवादी नेता विनोदानंद प्रसाद सिंह के 8 फरवरी 2013 को पटना में निधन के बाद 13 फरवरी को आयोजित श्रद्धांजलि सभा में पूर्वमंत्री हरिकिशोर सिंह ने यह बात कही। पटना के एएन सिन्हा संस्थान में आयोजित इस सभा में सांसद शिवानंद तिवारी ने कहा कि समाजवादी जनपरिषद नामक जिस संगठन से विनोदजी जुड़े थे, वह वैकल्पिक राजनीति की धारा थी। यह जानते हुए भी कि हमारे जीवन में कोई सफलता नहीं मिलेगी, इस तरह से प्रतिबद्ध होकर काम करने का उनका जुनून काबिले-तारीफ था। समाजवादी नेता शिवपूजन सिंह ने कहा कि वे सिद्धांत के लिए आजीवन समर्पित रहे। उनका घर ही समाजवादी जनपरिषद का प्रांतीय और राष्ट्रीय दफ्तर रहता था।

बिहार के विधानसभा अध्यक्ष उदयनारायण चौधरी, कृषि मंत्री नरेंद्र सिंह, नारीवादी कंचनबाला, अख्तर हुसैन, एएन सिन्हा संस्थान के निदेशक डा. दिवाकर, विनादजी की बेटे रेखा और भाई प्रो. तारशंकर आदि ने भी इस मौके पर अपने विचार रखे। तकरीबन सवा सौ लोग इस सभा में शरीक हुए।

### — अरुण नारायण

**दिल्ली।** वंचितों के साथ विनोद केवल वैचारिक नहीं, सच्चा जुड़ाव रखते थे। समाजवाद की लड़ाई को वे लंबा संघर्ष मानते थे। मूर्धन्य अर्थशास्त्री कमलनयन काबरा ने 12 फरवरी को गांधी शांति प्रतिष्ठान में आयोजित शोकसभा में कहा। हिंदी के आलोचक डा. विश्वनाथ त्रिपाठी ने बताया कि वे कम्युनिस्ट हैं और विनोद जी से उनकी खूब बहस होती थी। पूर्व विधायक डा.राजकुमार जैन ने कहा कि नौकरी करने और गृहस्थ होने के बावजूद विनोद बाबू मन, वचन और कर्म से पूर्णकालिक समाजवादी थे। उनका घर समाजवादी अड्डा हुआ करता था। कार्यक्रम संचालन करते हुए डा. प्रेम सिंह ने विनोदजी

के व्यक्तित्व और कर्म पर प्रकाश डाला। गांधी शांति प्रतिष्ठान के सचिव सुरेंद्र कुमार, युवा संवाद के संपादक डॉ. ए. के. अरुण, विजय प्रताप, मंजू मोहन, थानसिंह जोश आदि ने भी अपने विचार रखे।

### — राकेश कुमार दुबे

**बिहार, मुजफ्फरपुर।** विनोदजी के गृहनगर में 10 फरवरी को विश्वविभूति पुस्तकालय में प्रो. उदयशंकर सिंह की अध्यक्षता में शोक सभा हुई। पूर्व मंत्री हिंदकेसरी यादव, पूर्व विधायक महेश्वर प्रसाद यादव, पूर्व विधायक अरुण कुमार सिंह, प्रो. नवलकिशोर प्रसाद सिन्हा, सजप के प्रांतीय अध्यक्ष प्रो. अवधेश कुमार, शाहिद कमाल, जगत नारायण, विश्वबंधु, नवीन आदि ने उन्हें भावभानी श्रद्धांजलि दी।

**मध्यप्रदेश, रीवा।** विनोद प्रसाद सिंह ने डा. लोहिया, मधु लिमये और किशन पटनायक की समाजवादी चिंतन परंपरा को गतिशील बनाए रखा। रीवा में 9 फरवरी को समाजवादी जन परिषद, नारी चेतना मंच, विंध्याचल जन परिषद और गरीब बचाओ संघर्ष समिति के तत्वावधान में आयोजित शोकसभा में सजप नेता अजय खरे ने उक्त विचार प्रकट किए। इस मौके पर साहित्यकार दर्शन राही, बीनू दुबे, सुधा सिंह, गफूर खान एवं अन्य अनेक कार्यकर्ता मौजूद थे।

**विविध।** बिहार के मोतीहारी नगर में 10 फरवरी को सजप की राष्ट्रीय कार्यकारिणी के सदस्य संतूभाई संत की अध्यक्षता में शोकसभा हुई। इसमें मोतीहारी के नवल किशोर प्रसाद, वेद प्रकाश आदि के अलावा बेतिया के अमरेंद्र आदि साथी भी शामिल हुए।

कोचस में 14 फरवरी, सासाराम में 17 फरवरी और सीतामढ़ी में 21 फरवरी को श्रद्धांजलि सभाएं हुईं। मध्यप्रदेश में इटारसी में 17 फरवरी को वार्ता कार्यालय में एक बैठक आयोजित करके विनोदजी को श्रद्धांजलि दी गई। इसमें केसला और पिपरिया के साथी भी शरीक हुए। पश्चिम बंग में जलपाईगुडी जिले में जटेश्वर में समता केंद्र में 16 फरवरी को श्रद्धांजलि दी गई। महाराष्ट्र में परभणी में भी श्रद्धांजलि दी गई। ओडिशा में बरगढ़ में आयोजित जीरो बजट खेती के शिविर में उनको श्रद्धांजलि दी गई।

# मुलताई घोषणापत्र-2013

(12 जनवरी 2013 को मुलताई में जारी)

याद करें 12 जनवरी 1988। इस दिन 22 किसानों समेत कुल 24 लोग मारे गए, जबकि 150 किसान घायल हुए। किसानों ने अतिवृष्टि से तबाह फसल का सरकार से मुआवजा क्या मांगा, उन्हें पुलिस की कातिल गोलियां मिलीं। मध्य प्रदेश शासन और पुलिस की इस बर्बर कार्रवाई की पूरी दुनिया ने निंदा की। आज 15 वर्ष बाद फिर मुलताई और सारा देश अपने शहीद किसानों को याद कर रहा है। 15 वर्षों के लंबे अदालती संघर्ष में भी क्या हुआ ? गोली चलाने वालों की तरक्की और गोलियां खाने वाले किसानों को उम्र कैद।

मुलताई में 15 वें शहीद किसान स्मृति सम्मेलन एवं 200 वीं किसान महापंचायत के अवसर पर आयोजित जनसुनवाई में देशभर से आए हुए जन आंदोलनों और जन-संगठनों के संघर्षशील समाजकर्मी और बुद्धिजीवी देश पर छाप संकट और सरकारों द्वारा उठाए जनविरोधी कदमों पर घोर चिंता प्रकट करते हैं और नीचे लिखी घोषणाएं करते हैं -

**1.** आज भारतीय किसान अपनी 'ऊंची लागत और नीचे दाम' के चक्की के पाटों के बीच दला जा रहा है। खेती घाटे का सौदा हो गई है और पूंजीवादी साम्राज्यवादी ताकतें ग्रामीण भारत में अपना वर्चस्व स्थापित करती जा रही हैं। इसका मुख्य कारण खेती-किसानी के काम को 'अकुशल' काम के रूप में मान लेना है। सरकार द्वारा फसल का भाव तय करने में किसान की गांठ कट जाती है। हम इस अन्याय को बर्दाश्त नहीं करेंगे और यह सुनिश्चित करेंगे कि किसानों की मेहनत का मूल्य किसी भी हालत में संगठित क्षेत्र के कामगार से कम न हो।

**2.** खेती-किसानी के मामले में भारत सरकार ने दोमुंही नीति अपनाई है। आजादी के बाद सन 1950 में सकल राष्ट्रीय आय में खेती-किसानी

करने वालों की संख्या 70 फीसदी और सकल राष्ट्रीय आय में उसका हिस्सा 67 फीसदी था। अब 60 साल के बाद खेती-किसानी करने वालों का सकल राष्ट्रीय आय में हिस्सा सिर्फ 14 प्रतिशत रह गया, जबकि इसमें काम करने वालों का हिस्सा 60 प्रतिशत है। भारत सरकार के अनुसार सन् 2020 तक इसमें काम करने वाले 55-60 फीसदी होंगे, जबकि सकल राष्ट्रीय आय में उनका हिस्सा सिर्फ 6 प्रतिशत रह जाएगा। यह अन्यायी व्यवस्था हमें स्वीकार नहीं है और हम मांग करते हैं कि सकल राष्ट्रीय आय में खेती-किसानी वालों का हिस्सा कम से कम 50 प्रतिशत हो।

**3.** भारत सरकार ने अभी यह फैसला किया है कि खेती-किसानी में काम करने के लिए नई तकनीक की जरूरत अनिवार्य होती जा रही है, परंतु नई तकनीक के लिए जो धनराशि जरूरी है, वह उपलब्ध नहीं है। यह धनराशि सामान्य किसान के पास भी नहीं है। इसलिए अब खेती-किसानी के लिए धनराशि मुहैया कराने वाले ही खेती करेंगे। पिछले वर्ष आंध्रप्रदेश में खेती घाटे का सौदा होने को ध्यान में रखते हुए किसानों ने एक लाख एकड़ में खेती की ही नहीं। हम इस सोच का सख्त विरोध करते हैं, क्योंकि इसका एक ही अर्थ है कि किसानों की खेती छीनकर अब पूंजीपति खुद खेती करेंगे।

**4.** भारत में ईस्ट इंडिया के आने के बाद किसानों के साथ भारी अन्याय और शोषण हुआ। किसान कर्ज में पैदा होता है, कर्ज में जीता है और कर्ज में ही मरता है। सन् 1857 के बाद व्यवस्थित राजकाज की व्यवस्था में 1883 और 1884 के कानूनों के अनुसार खेती-किसानी वालों पर चक्रवृद्धि ब्याज खतम किया गया और साधारण ब्याज का रेट 4 फीसदी रखा गया। यही नहीं, उसके चुकतारे के लिए बड़े मामलों में '35 साल से अधिक न होने' की व्यवस्था की गई। आजादी आने के बाद कुछ समय यही व्यवस्था चली। परंतु भारत सरकार या



स्थापित बैंकों ने उनके कर्ज के लिए पहले जैसे साधारण ब्याज से कर्ज देने की व्यवस्था नहीं की। इसके चलते खेती-किसानी वालों पर भारी बोझ हो गया। यही नहीं, उसकी वसूली के लिए अनेक राज्यों में सिविल जेल की व्यवस्था बनी रही। इस भेदभाव से निपटने के लिए कोई व्यवस्था तो की नहीं गई, वरन् सन् 1984 के कानून में यह दर्ज कर दिया गया कि 'कर्ज की शर्तों को किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती है।' हम इस पूरी व्यवस्था को अमान्य घोषित कर 1984-85 के कानून की खिलाफत का एलान करते हैं।

**5. मादक पदार्थों का उपयोग राज्य द्वारा नियंत्रित नहीं किया जा सकता है।** वह सामाजिक मामला है उसे सामाजिक रूप से ही समाप्त किया जा सकता है। आज हमारा अनुभव है कि राजस्व के लिए लालायित राज्यों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया और आज के दिन राज्य की आमदनी बढ़ाने के लिए कितनी भी शराब बिकवाई जा सकती है। आदिवासी इलाकों में सन् 1974 में मादक पदार्थों पर नियंत्रण समाज के हाथ में सौंपा गया। वह व्यवस्था 20 साल तक चली परंतु अब सब कुछ भुला दिया गया। बैतूल में इस मामले में समाज खासतौर से महिलाओं ने अग्रणी भूमिका निभाई। उन्होंने यह सुनिश्चित किया कि मादक पदार्थ गांव अर्थात् ग्राम सभाओं की जिम्मेदारी है, उसके निर्मूलन के लिए ग्राम सभाओं को अग्रणी भूमिका देंगे और उसमें सफलता के लिए अन्य कामों को स्थगित हुआ मानेंगे।

**6. खेती के बाद देश की बड़ी आबादी लगभग 25 करोड़ की आजीविका खुदरा व्यापार से चलती है।** अमरीकी और यूरोपियन कंपनियों जैसे वालमार्ट (अमरीका), टैस्को (इंग्लैंड), कारफूर (फ्रांस), मेट्राएजी (जर्मनी) और उनकी सरकारों के दबाव में भारत सरकार ने मल्टी ब्रांड रिटेल में 51 प्रतिशत तथा सिंगल ब्रांड रिटेल में 100 प्रतिशत विदेशी निवेश का निर्णय ले लिया। फिलहाल संसद और देश भर में विरोध के बावजूद सरकार इसे लागू करने के लिए कृतसंकल्प है। तर्क यह दिया जा रहा है कि किसानों, उत्पादकों और उपभोक्ताओं को बिचौलिया लूटते हैं। खुदरा व्यापार की बड़ी कंपनियों से किसानों और उपभोक्ता दोनों को लाभ होगा। पर असलियत यह है कि इस फैसले से छोटे बिचौलियों के स्थान पर बड़े कारपोरेट

बिचौलिया बैठ जाएंगे, जो कालांतर में उत्पादकों और उपभोक्ताओं दोनों को लूटेंगे जैसा कि अब तक विदेशों में होता आया है।

हम घोषणा करते हैं कि किसानों, छोटे-मझोले व्यापारियों और उपभोक्ताओं के बीच जागरूकता अभियान शुरू किया जाएगा और सारे जन आंदोलनों और संगठनों, व्यापारियों, किसानों और युवाओं के संगठनों के साथ मिलकर विदेशी खुदरा कंपनियों को कारोबार नहीं करने देंगे। यह भी कोशिश की जाएगी कि किसानों और अन्य उत्पादकों के अपने बाजार बने, स्टोरेज की सुविधा उनके पास हो और वे अपनी प्रोसेसिंग इकाईयां चलाएं।

**7. देश पर इस समय सबसे बड़ा संकट यह है कि देश के संसाधनों, मुख्य रूप से खेती की जमीन, किसानों के हाथों से छीनी जा रही है और वह बड़े-बड़े देशी-विदेशी कारपोरेट घरानों के हाथ में जा रही है।** सरकार ऐसे कानून बना रही है, संसाधनों को जो आम जन से कारपोरेट घरानों को हस्तांतरित करने में सहायक हो रहे हैं। प्रस्तावित भूमि अधिग्रहण, पुनर्वास और पुनर्स्थापना अधिनियम-2011 ऐसा ही कदम है। इसकी प्रस्तावना में सरकार ने घोषित किया है कि इन्फ्रास्ट्रक्चर, औद्योगीकरण, शहरीकरण और अनेक परियोजनाओं के लिए किसानों की जमीन तो लेनी ही है, उन्हें अच्छा मुआवजा दे दिया जाएगा। ग्रामीण क्षेत्रों में ग्राम सभा और शहरी क्षेत्रों में बस्ती सभा की सहमति के बगैर भूअर्जन हमें मंजूर नहीं। देश के अन्य कानूनों के तहत चल रहा जबरन भूअर्जन भी रूकना जरूरी है। किसानों से जमीन और उससे जुड़े अन्य संसाधन जैसे जल, जंगल, खदान और पहाड़ को लेने के लिए खेती को घाटे का सौदा बना दिया है। खेती में लगने वाले खाद, बीज, कीटनाशक, डीजल आदि कंपनियों के हाथ में चले गए हैं जिनका दाम साल में कई बार बढ़ाया जा रहा है। पर उस अनुपात में खेती के उत्पाद का मूल्य नहीं बढ़ रहा है और किसान कर्ज में लद गए हैं। कई लाख किसानों ने आत्महत्या कर ली है। जमीन हड़पने की दूसरी साजिश अंतरराष्ट्रीय स्तर पर चल रही है। विश्व अर्थव्यवस्था मूलतः सट्टेबाजी पर चल रही है। इस तरह से पैदा हुई नकली पूंजी को असली पूंजी बनाने के लिए पूंजीपति तरह-तरह से जमीन खरीद रहे हैं, क्योंकि जमीन ही असली पूंजी है। इसलिए जमीन के दाम बढ़ते गए हैं, जिससे किसानों के

मन में जमीन छोड़ने का लालच पैदा हो जाए। हम ऐलान करते हैं कि जमीन कब्जाने की यह साजिश नहीं चलने देंगे और मांग करते हैं कि प्रस्तावित भूमि अधिग्रहण अधिनियम 2011 रद्द हो। खेतीहरों के पक्ष में विकास नियोजन का नया समतावादी कानून पारित हो।

**8.** हम 12 जनवरी 1998 को मुलताई के किसान आंदोलन पर पुलिस गोलीचालन के दोषी अधिकारियों पर हत्या के मुकदमे दर्ज करने, मुलताई तहसील कार्यालय को स्मारक घोषित करने, किसानों पर लादे गए फर्जी मुकदमे वापस लेने तथा शहीद परिवारों के एक आश्रित को स्थाई शासकीय नौकरी देने के लिए किसान संघर्ष समिति द्वारा किए जा रहे संघर्ष को समर्थन का ऐलान करते हैं। पहले कांग्रेस सरकार तथा अब भाजपा सरकार द्वारा उक्त मुद्दों पर कार्रवाई न किए जाने के पीछे दोनों पार्टियों का किसान विरोधी रवैया है। बैतूल, मुलताई सहित प्रदेश के सभी जिलों में भाजपा कार्यालय हेतु करोड़ों रूपयों की जमीन आवंटित करने, देश में 10 हजार हेक्टेयर जमीन किसानों से लेकर कंपनियों के साथ एम. ओ.यू. साइन करने (आवंटित करने) के कदम का हम विरोध करते हैं। प्रदेश में किसानों की जमीन की भू-अर्जन की कार्रवाई के खिलाफ संघर्ष तेज करने का हम ऐलान करते हैं।

**9.** मध्यप्रदेश के छिंदवाड़ा जिले में अदानी पावर प्लांट के लिए प्रदेश की भाजपा सरकार की सहमति पर अदानी ने किसानों की जमीन सालों पहले जबरन कब्जाई। यही नहीं, सरकार ने माचागोरा बांध का पानी पहले ही अदानी को बेच दिया है। यहां भी किसान अपनी जमीन देने को तैयार नहीं हैं, लेकिन अदानी पुलिस के बल पर किसानों की जमीन हड़पना चाह रहा है। प्रदेश की भाजपा सरकार और विपक्ष में बैठी कांग्रेस ने अदानी ग्रुप को लूट की पूरी छूट दे रखी है। उसने सार्वजनिक कुओं, मरघट तक पर भी कब्जा कर लिया है। मध्यप्रदेश किसान संघर्ष समिति के संस्थापक अध्यक्ष और मुलताई के पूर्व विधायक डा.सुनीलम ने अदानी पावर प्रोजेक्ट के खिलाफ आवाज उठाई तो उन पर प्रदेश की भाजपा सरकार और केंद्रीय मंत्री कमलनाथ के इशारे पर कई बार हमले कराए गए। छिंदवाड़ा में किसानों के आंदोलन

को कुचलने और अदानी ग्रुप को लूट की खुली छूट देने की मंशा से ही प्रदेश सरकार ने डा. सुनीलम, नर्मदा लॉज के मालिक प्रहलाद अग्रवाल और आल्हा गायक शेषराव सूर्यवंशी को ऐन वक्त पर मुलताई गोलीकांड के दौरान फर्जी मुकदमों में फंसाकर आजीवन कारावास की सजा दिलाने का काम किया। वे पूर्णतः निरपराध हैं। डा. सुनीलम अहिंसक और जनतांत्रिक समाजवाद की धारा में विश्वास रखते हुए, राज्य तथा देश में किसानों, मजदूरों, विस्थापितों के आंदोलनों को, समता-न्याय के लिए लड़ने वालों को नेतृत्व देते रहे हैं। उन पर लगाए आरोप और तीनों को दी गई सजा की हम भर्त्सना करते हैं।

उल्लेखनीय है कि डा. सुनीलम को जेल में भेजने के दो दिन पहले यानी 16 अक्टूबर 2012 को ही अदानी पावर प्रोजेक्ट को पर्यावरणीय मंजूरी दी गई। माचागोरा बांध के 31 प्रभावित गांवों और छिंदवाड़ा जिले में 144 की धारा गैरकानूनी रूप से लगाई गई। चंद लोगों के साथ हजारों पुलिसकर्मियों के दबाव में बांध का काम शुरू किया। जनांदोलनों के राष्ट्रीय समन्वय की समन्वयक मेधा पाटकर और किसान संघर्ष समिति की उपाध्यक्ष आराधना भार्गव समेत कई किसानों को पुलिस ने गिरफ्तार कर जेल भेज दिया। इस दमनकारी हरकत की कानूनी कार्रवाई जारी है। आदिवासी और किसान विरोधी, जनतंत्र विरोधी सरकार एवं राजनेताओं का हम विरोध करते हैं और आगे भी करते रहेंगे।

स्थानीय से राष्ट्रीय स्तर के साथियों की उपस्थिति में आज मुलताई से हम सभी सक्रिय समाजकर्मी, किसान, ग्रामीण व देश के लोग यह ऐलान करते हैं कि किसानों पर हो रहे हर जुल्म का हम अहिंसक प्रतिकार करते रहेंगे। **सरकार की गोलियां किसानों का हौसला नहीं डिगा सकतीं। मुलताई में किसानों की शहादत का यही सबक है कि हम जी-जान पर खेलकर भी अपनी खेती और समस्त प्राकृतिक संसाधनों को कारपोरेट के चंगुल में जाने से रोकने का प्रयास करते रहेंगे।** किसानों के इस बलिदान को हम यों ही जाया नहीं होने देंगे।

# राष्ट्रीय आंदोलन के बारे में कुछ सवाल

राजेन्द्र चौधरी

वार्ता के जनवरी-फरवरी 2013 अंक में 'नया राष्ट्रीय आन्दोलन खड़ा करने का वक्त आ गया है' नामक सजप का दस्तावेज सामयिक है और इस की अधिकांश बातों से मैं सहमत हूँ। यथा 'समाजवाद और लोकतंत्र दोनों हमारे लिए जरूरी हैं और परस्पर पूरक हैं', 'बाजार रहे लेकिन छोटा हो तथा उस पर समाज का नियंत्रण रहे', 'कोई एक वर्ग क्रांति का अगुआ या हरावल दस्ता होगा, यह धारणा अब पुरानी और गलत साबित हो गई है'। और भी अनेक बातें हैं, जिन से, यहां तक कि इस दस्तावेज की मूल धार से भी मैं सहमत हूँ। परंतु मैं यहां कुछ प्रश्न उठाना चाहूंगा। ऐसा नहीं है कि ये प्रश्न या मतभेद आम सहमति के बिन्दुओं से ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। परंतु इस दस्तावेज के नीतिगत महत्व को देखते हुए ही इन सवालों को उठाना जरूरी लगता है।

**पहली बात,** इस दस्तावेज के मूल में यह अवधारणा है कि 'देश में जो समृद्धि दिखाई दे रही है वह थोड़े से लोगों तक सीमित है'। खास तौर से 1990 के बाद से हुए बदलावों के सम्बंध में यह आमतौर पर कहा जाता है। परंतु क्या वास्तव में यह समृद्धि थोड़े से लोगों तक ही सीमित है? मेरे हिसाब से आर्थिक विकास से चंद या गिने चुने लोग नहीं, अपितु एक अच्छा खासा बड़ा तबका लाभान्वित हुआ है। कारों, टीवी इत्यादि की बढ़ती संख्या के आंकड़े भी यह दिखाते हैं। दो बातों में फर्क है। यह कहना कि विकास की यह दिशा टिकाऊ नहीं है, असमानता बढ़ रही है, यह आर्थिक समृद्धि सुख शांति बढ़ाने वाली नहीं है, अलग बात है और यह कहना कि वर्तमान आर्थिक विकास से चंद लोगों को ही फायदा हो रहा है, अलग बात है। यह केवल बाल की खाल निकालने की या बौद्धिक विलास की बात नहीं है। इस का सम्बंध सीधे-सीधे सामाजिक परिवर्तन की लड़ाई की रणनीति से है। 'थोड़े से लोगों तक सीमित' विकास की अवधारणा से यह ध्वनि निकलती है कि अधिकांश आबादी, 90-95 प्रतिशत या इस से भी ज्यादा का, इस व्यवस्था से मोह भंग हो चुका है और इस लिए व्यवस्था से लड़ते समय उनके सामने

'अपनी बेड़ियों' को खोने के अलावा अन्य कोई खतरा नहीं है। इसके विपरीत हम अपने आस-पास, कम से कम हरियाणा में अपने आसपास मैं यह पाता हूँ कि ऐसा तबका अच्छा खासा है जिसकी आर्थिक स्थिति, उपभोग के स्तर में सुधार हुआ है और इस में अनुसूचित और पिछड़ी जातियों का भी एक हिस्सा शामिल है। यह बड़ा हिस्सा स्वाभाविक तौर पर संघर्ष के लिये तैयार नहीं है। इस को कैसे अपने साथ जोड़ें या इस के साथ कैसे पार पाएं, यह एक महत्वपूर्ण चुनौती है। 'थोड़े से लोगों तक सीमित' विकास की अवधारणा इस चुनौती को नजरअंदाज करती है।

**दूसरी बात,** यह सही है कि 'छोटे-मोटे सुधारों से बात नहीं बनने वाली', व्यापक और बहुआयामी परिवर्तन की दरकार है। परंतु क्या सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में यह कहना उचित होगा कि इस इमारत को 'ध्वस्त करके नई इमारत खड़ा करने की जरूरत है'? जब हम पुराने मकान को गिरा कर नया मकान बनाते हैं तो किराए के दूसरे मकान में कुछ दिनों के लिए चले जाते हैं। परंतु समाज के संदर्भ में क्या ऐसा करना संभव है? पुराने ढांचे को ध्वस्त करके हम कहां जाएंगे? समाज के सन्दर्भ में तो मकान के अन्दर रहते हुए उसकी मरम्मत करानी होगी। यह केवल शब्दों के खेल की बात नहीं है। यह बिंब हमारी रणनीति को प्रभावित करता है। इस का एक रूप आम जन के बीच इस तरह भी उभर कर आता है कि समाज को और गर्त में जाने दो, प्रशासन को और गल-सड़ जाने दो तब जा कर ही सुधार होगा। अभी कुछ सुधार करोगे तो अंततः होने वाले परिवर्तन को हम विलंबित ही करेंगे। बौद्धिक स्तर पर सुधार बनाम क्रांति का विमर्श रहा है। आमतौर पर सुधार को क्रांति की राह में रोड़े के तौर पर ही देखा गया है। इस निष्कर्ष को समाजवाद की उस मार्क्सवादी अवधारणा के तहत तो समझा जा सकता है जिस में निजी सम्पत्ति का पूर्ण निषेध है, जिसमें क्रांति की एक ही धुरी है और उस का एक ही हरावल दस्ता

है, परंतु जब सजप, ऐतिहासिक अनुभव और तर्क के आधार पर, इन मान्यताओं को छोड़ चुकी है तो सुधार या क्रांति के स्थान पर, व्यवस्था को ध्वस्त करने के स्थान पर क्रांतिकारी सुधारों की भाषा और नीति अपनाती होगी। सामान्य समझ के हिसाब से भी देखें तो आन्दोलन तो निश्चित स्थूल मांगों को ले कर ही होंगे। ये निश्चित मांगें सतही और तात्कालिक प्रभाव छोड़ने वाली हो सकती हैं या इन के दूरगामी और गहरे प्रभाव हो सकते हैं परंतु आंदोलन 'आमूल-चूल' परिवर्तन की मांग तो नहीं रख सकते। **व्यवस्था ध्वस्त करके 'आमूल-चूल' परिवर्तन के लिए तो राज्य सत्ता को खत्म करके उस पर कब्जा करने की रणनीति निकलती है जो शायद नक्सलवादियों की रणनीति है। अहिंसक तरीके से आमूल-चूल परिवर्तन तो कुछ चुनी हुई बातों के इर्द-गिर्द आंदोलन करते हुए व्यापक और बुनियादी परिवर्तन की ओर चलने से ही आएगा। चुनौती इन मुद्दों के चुनाव में और इसे व्यापक परिवर्तन की ओर ले जाने में ही है।** इस लिए जनलोकपाल के लिए आंदोलन की यह आलोचना सही नहीं है (इस दस्तावेज में यह आलोचना नहीं की गई है) कि यह भ्रष्टाचार और सामाजिक समस्याओं के एक पक्ष को ही छूता है। एक आंदोलन एकांगी हो कर भी व्यवस्था परिवर्तन की दिशा में मील का पत्थर बन सकता है। महत्वपूर्ण है मुद्दे का चुनाव और इसे पाने की रणनीति है।

**तीसरी बात,** इस सन्दर्भ में जनांदोलनों की इस आलोचना पर भी पुनर्विचार करने की आवश्यकता है कि 'अपने दायरे से बाहर जाकर व्यापक स्तर पर काम करने की फुर्सत, तीव्रता या वैचारिक तैयारी उनमें आम तौर पर नहीं दिखाई देती।' पिछले दशकों के एक महत्वपूर्ण आन्दोलन, नर्मदा बचाओ आन्दोलन का उदाहरण लें तो इस आन्दोलन ने देश भर में विकास की अवधारणा पर सवाल उठाए हैं और मेधा पाटकर देश के अनेक हिस्सों में जाकर आंदोलनों में शामिल होती रही हैं। मैं यह भी कहना चाहूंगा कि जब एक आंदोलन चलाए रखने के लिए ही लोगों की कमी रहती हो, जनता को जोड़े रखने में तरह-तरह के पापड़ बेलने पड़ते हों तो कई मोर्चों पर आदमी कैसे लड़े ? मेरा स्वयं का जमीनी लड़ाई का बहुत लम्बा अनुभव नहीं है। अलग-अलग समय पर थोड़ा बहुत साक्षरता अभियान और कुदरती खेती अभियान का अनुभव है। जब एक मुद्दे पर ही लोगों को जोड़ पाना मुश्किल पड़ रहा हो, और जो लोग जितने

समय के लिये बैठक में आ रहे हों उस में उस विषय पर ही पूरी बात नहीं हो पा रही हो, तब और सब मुद्दे कैसे उठाए जाएं ? हो सकता है यह मेरी व्यक्तिगत कमजोरी रही हो परंतु चाह कर भी हम अपने यहां अन्य सब मुद्दे मजबूती से नहीं उठा पाए, थोड़ा बहुत जिक्र जरूर किया (वैसे मजबूती से तो साक्षरता और कुदरती खेती का मुद्दा भी नहीं उठा पाए)। और जब अपने यहां का काम ही आधा-अधूरा हो पा रहा हो, तब अन्य आंदोलनों, अन्य जगह के आंदोलनों में कैसे रस्मी भागीदारी से आगे जा पाएं, यह हम जैसे लोगों को समझाना होगा। संकट की घड़ी में साथ देना और बात है। परंतु नियमित रूप से साथ होना अलग बात है। जब कोई आर पार की संभावना हो, तब और बात होती है, वरना तो बैठक की तारीखों में टकराव ही इस सहयोग को मुश्किल बना देता है। जब तक किसी मुद्दे या आंदोलन के बारे में आम सहमति नहीं बनती कि यह इस समय का सबसे महत्वपूर्ण काम है तब तक, इस समस्या से निपटना मुश्किल होगा।

**चौथी बात,** कम्युनिस्ट और अन्य ऐसी पार्टियों के संदर्भ में यह कहा गया है कि 'फिर भी नीचे के स्तर पर इन दलों के साथ जुड़े कई व्यक्ति, समूह व जनसंगठन ऐसे हैं जिनमें परिवर्तन की चाह बनी हुई है तथा देश में एक बड़ा परिवर्तनकामी आंदोलन खड़ा करने में उनका सहयोग मिल सकता है'। यह सही है परंतु निचले स्तर से अभिप्राय केवल गांव-कस्बा स्तरीय कार्यकर्ता नहीं होना चाहिये। ऐसे लोग हमें इस से ऊपर के स्तर पर भी मिल सकते हैं। इस से भी आगे जा कर मैं यह कहना चाहूंगा कि ऐसे सहयोगी हमें कांग्रेस और भाजपा में भी मिल सकते हैं। इन में भी निस्वार्थ भाव से काम करने वाले लोग, जो विकल्प न होने के कारण इन पार्टियों में हैं, हमें मिल सकते हैं। जैसे प्रशासन में भी अच्छे लोग, सहयोगी व्यक्ति मिल जाते हैं वैसे ही मुख्यधारा की पार्टियों में भी मिल सकते हैं। इस संभावना को नीतिगत दस्तावेज में ही नकार देना उचित नहीं होगा, हालांकि मुख्यधारा की पार्टियों में ऐसे लोगों की तलाश हमारी प्राथमिकता नहीं हो सकती। लेकिन जो भी निस्वार्थ भाव से सामाजिक या राजनैतिक काम कर रहा है या अपनी नौकरी या व्यवसाय को ही तुलनात्मक रूप से ईमानदारी और समाज सेवा की भावना से कर रहा है, हमारा लक्ष्य उन सब को संगठित करने का हो।

**पांचवीं बात,** जहां तक 'लोगों की देशप्रेम और राष्ट्रियता की भावना' जगाने की बात है एक स्तर पर यह ठीक लगती है। आमतौर पर इस भाषा का प्रयोग भाजपा जैसे दल करते हैं और वामपंथी विचारधारा इस से दूर रहती प्रतीत होती है जबकि आमजन का इस भाषा और मुहावरे के साथ लगाव है। परंतु सैद्धांतिक स्तर पर क्या राष्ट्रियता की भावना मानवमात्र के प्रति प्रेम के आड़े नहीं आती ? अगर मैं एक पाकिस्तानी के मुकाबले एक भारतीय के प्रति ज्यादा सद्भावना रख सकता हूं तो अपनी जात और धर्म के प्रति विशेष अनुराग को हम कैसे गलत ठहराएंगे ? क्षेत्रवाद और कुनबापरस्ती क्या राष्ट्र प्रेम का छोटा स्वरूप नहीं है ? क्या राष्ट्र का स्थान समाज और मानव प्रेम ले सकता है ? हालांकि इस दस्तावेज में भी राष्ट्रवाद के प्रति काफी सावधानी बरती गई है और 'संकीर्ण और उग्र' राष्ट्रवाद से दूरी बनाई गई है परंतु क्या इस से आगे बढ़कर राष्ट्र को जिला या राज्य की तरह मात्र एक प्रशासनिक इकाई मानना उपयुक्त नहीं होगा और हमारी प्रेरणा के स्रोत समता, न्याय इत्यादि मूल्य क्यों न हों ?

**छठी बात,** यक्ष प्रश्न यह है कि नया आंदोलन खड़ा कैसे किया जाये ? इस के बारे में इस दस्तावेज में बहुत कम चर्चा है। यह तो बिल्कुल सही है कि 'बुनियादी बदलाव के लिये जन संघर्ष, रचनात्मक काम, वैचारिक अभियान, संगठन निर्माण और चुनावों में भागीदारी— इन पांचों मोर्चों पर काम करना जरूरी होगा।' परंतु यह किया कैसे जाए? जब एक मोर्चे पर लड़ाई ही चंद जगहों पर लड़ी जा रही है, वहां लड़ाई के इन मोर्चों की संख्या और इन का क्षेत्र कैसे बढ़ाएं ? इस दस्तावेज में 'यात्रा, संवाद, बहस चलाने और मुद्दे उठाने' को कहा गया है परंतु इस विषय पर और चर्चा की जरूरत है।

इस बारे में मैं अपने कुछ अनुभवनुमा सवाल रख कर अपनी बात खत्म करना चाहूंगा। अपने शहर व जिले में हम कुछ लोग हैं जो सामाजिक परिवर्तनकामी हैं और जिन का आपस में इकट्ठा काम

करने का कुछ अनुभव भी है, परस्पर विश्वास भी है। थोड़ा बहुत कुछ करते भी रहते हैं। परंतु इस से आगे प्रभावी काम नहीं कर पा रहे हैं। अधिकांश नौकरीपेशा हैं उसके चलते सीधे संघर्ष के काम शुरू कर नहीं पाते। और न ही ऐसे कोई बड़े संघर्ष यहां चल रहे हैं। कुछ आंदोलन होते भी हैं, तो कई बार हमारी उन मुद्दों के बारे में उस समय कोई विशेष समझ ही नहीं होती। दूसरे कई संगठन हैं पर उन के परिप्रेक्ष्य या काम के तौर तरीके आकर्षित नहीं करते। कई बार उन कामों में खानापूती का भाव रहता है, या मुद्दे बिल्कुल सतही लगते हैं। फिर हमारी अपनी रूचियां और क्षमतायें भी कई बार अलग-अलग हो जाती हैं। कोई तात्कालिक लड़ाई ऐसी महत्वपूर्ण नहीं लगती है जो इन मतभेदों से ऊपर की लगे और जिस के लिए परिवार इत्यादि को भी छोड़-छाड़ कर लग जाएं। थोड़ा बहुत समय जो लगाते हैं, लगा सकते हैं तो लोगों को संगठित करना इतना आसान भी नहीं कि इतने भर से काम हो जाए। कुछ लोग नौकरी छोड़ भी सकते हैं, एक आध ने छोड़ी भी है, परंतु इतने से भी प्रभावी संगठन तो नहीं बनता। समझ में नहीं आता क्या करें ?

'समर्पित' परिवर्तनकामी लोगों की यह हालत है तो अकेले-दुकेले पड़े आमजन का क्या हाल होगा ? (अध्यात्म या पुण्य-परोपकार के काम शायद इन परिस्थितियों में ज्यादा लुभाते हैं)। निराशा के इस वातावरण में एक आशा की किरण यह है कि इन लोगों ने पाला नहीं बदला है। पूरी तरह हथियार नहीं डाले हैं। जब भी कोई आस जगाने वाला मौका आता है लोग बाहर निकलकर आ भी जाते हैं। अगस्त 2011 का जनलोकपाल के लिए जन उभार इस का ताजा उदाहरण है (और इस मौके का हाथ से निकल जाना हमारी चुनौतियों को रेखांकित करता है)। लड़ाई और तलाश जारी रहनी चाहिये।

— अर्थशास्त्र विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)

## लड़ाई व तलाश जारी रहनी चाहिए

सुनील

राजेंद्र चौधरी जी ने महत्वपूर्ण सवाल उठाए हैं, जिनसे बातों को और साफ करने में मदद मिलेगी।

**पहली बात**

इस आह्वान में यह नहीं कहा गया है कि बहुसंख्यक आबादी के भौतिक जीवन में कोई बेहतरी

नहीं आई है। कारों और टीवी के साथ मोबाइल फोन को भी जोड़ा जा सकता है, जिसकी संख्या में तो बेहताशा बढ़ोतरी हुई है। अब गरीब से गरीब भारतीय के पास मोबाइल है। किंतु इसे 'समृद्धि' नहीं कह सकते। मोबाइल या टीवी होने के बावजूद एक परिवार कुपोषित, फटेहाल या झुग्गी-झोपड़ी वासी हो सकता है। यह उपभोक्तावादी संस्कृति का कमाल है।

फिर हम निम्न तथ्यों पर गौर करें—

1. कुछ साल पहले असंगठित क्षेत्र के बारे में गठित अर्जुन सेनगुप्ता समिति ने हमारा ध्यान इस ओर खींचा था कि 78 फीसदी आबादी 20 रु. रोज से नीचे जीवनयापन कर रही है। ये आंकड़े 2004-05 के राष्ट्रीय सेंपल सर्वेक्षण (एन.एस.एस.) पर आधारित थे। जाहिर है कि इस 78 फीसदी या इससे थोड़े ऊपर के लोगों को हम किसी भी तरह से समृद्ध नहीं कह सकते।

2. दुनिया के मानव विकास सूचकांक और भूख सूचकांक में भारत की जगह बहुत नीचे है। कई मामलों में तो बांग्लादेश या अफ्रीकी देशों से भी बदतर है। दुनिया के सबसे ज्यादा भूखे, कुपोषित, अशिक्षित और टीबी ग्रस्त लोग भारत में हैं। यह सिर्फ ज्यादा आबादी या सापेक्षिक गरीबी का मामला नहीं है। जिस देश में आधे बच्चे और आधे से ज्यादा महिलाएं कुपोषित हों, क्या यह कहा जा सकता है कि विकास और समृद्धि के फायदे बहुसंख्यक लोगों तक पहुंच रहे हैं ?

3. देश में पक्के मकानों की संख्या बढ़ी है, लेकिन आबादी का बड़ा हिस्सा आज भी कच्चे मकानों, झोपड़ियों, झोपड़पट्टियों में या फुटपाथ पर रहता है। इन्हें कड़कड़ाती ठंड, लू या तेज बरसात से पर्याप्त सुरक्षा नहीं है। ज्यादातर लोग शायद अब भरपेट अनाज खा रहे हैं और बेहतर कपड़े पहन रहे हैं, लेकिन दाल, मांस, अंडा, तेल, सब्जी, फल, दूध आदि पर्याप्त मात्रा में न खा पाने के कारण वे कुपोषण के शिकार हैं। पिछले पंद्रह सालों में तो प्रति व्यक्ति अनाज उपलब्धि भी कम हुई है।

4. लोगों की आय बढ़ी है, लेकिन नवउदारवादी नीति के तहत सरकार द्वारा जिम्मेदारी से भागने और निजीकरण के कारण इलाज व शिक्षा पर खर्च काफी बढ़ा है। यही नीति चालू रही तो पानी, ईंधन और बिजली पर खर्च भी बढ़ता जाएगा, जिससे साधारण भारतवासियों को अपनी दूसरी जरूरी मदों

में कटौती करना पड़ सकता है। कुल मिलाकर यदि भोजन, मकान, शिक्षा और इलाज जैसी बुनियादी जरूरतें बहुसंख्यक लोग पूरी नहीं कर पा रहे हैं, तो उन्हें समृद्धि के दायरे में नहीं माना जा सकता।

5. हरियाणा को देखकर पूरे भारत की तस्वीर का आकलन नहीं किया जा सकता। ऐतिहासिक कारणों से पंजाब-हरियाणा को नहरी सिंचाई, रासायनिक खाद, बिजली आदि पर खर्च व अनुदानों का काफी गैर-अनुपातिक फायदा देश के दूसरे हिस्सों की कीमत पर मिला है। पिछले दो दशकों में दिल्ली के नजदीक होने का फायदा भी उन्हें मिला है। यह आधुनिक पूंजीवाद की खासियत है कि इसमें कई तरह की गैरबराबरी और कई तरह के असंतुलन पनपते हैं। कुछ इलाकों व कुछ तबकों की समृद्धि के टापू बनते हैं, जिन्हें देखकर कंगाली, बदहाली व बरबादी के महासागर पर कई बार परदा पड़ जाता है।

जहां तक व्यवस्था से मोह भंग का सवाल है, यह तो अलग-अलग स्तरों पर आंदोलनों, आक्रोश व हिंसा में प्रकट हो रहा है। यहां तक कि अब तो शहरी मध्यम वर्ग भी बड़ी संख्या में बार-बार सड़क पर आ रहा है। यह जरूर है कि अक्सर इस असंतोष के साथ इसके कारणों की स्पष्ट समझ नहीं होती है, इसलिए यह व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह की दिशा नहीं ले पाता है। ये कारण भी केवल आर्थिक नहीं है, सामाजिक, राजनैतिक, प्रशासनिक व सांस्कृतिक भी हैं, लेकिन आर्थिक समस्याएं एक प्रमुख कारक जरूर है।

### दूसरी बात

कृपया इमारत की उपमा को शाब्दिक रूप में न लें। मूल बात यह है कि क्रमिक सुधारों से काम चलेगा या कम से कम समय में क्रांतिकारी बदलावों की जरूरत होगी ? कुछ उदाहरणों से बात स्पष्ट होगी।

शिक्षा व्यवस्था को लें। निजीकरण के साथ शिक्षा के व्यवसायीकरण और मुनाफाखोरी ने कई विकृतियों को जन्म दिया है। इसलिए शिक्षा में मुनाफाखोरी पर पूरी तरह रोक लगाकर मुख्यतः सरकारों को ही शिक्षा की जिम्मेदारी लेनी होगी। किसी-न-किसी रूप में समान (साझा) स्कूल प्रणाली के बगैर दुनिया का कोई भी देश (घोर पूंजीवादी देश भी) पूरी आबादी को शिक्षित नहीं कर पाया है। इसलिए साझा स्कूल प्रणाली को कानून बनाकर लागू करना होगा। इसके अलावा, मौजूदा तोतारटंट

किताबी शिक्षा के स्वरूप को भी पूरी तरह बदलकर बहुआयामी, जीवंत और सार्थक बनाने की जरूरत है। हमारी उच्चशिक्षा तो और ज्यादा निरर्थक, विकृत व समाज की जरूरतों से कटी हुई है। इसमें और ज्यादा क्रांतिकारी बदलावों की जरूरत होगी। शिक्षा में अंग्रेजी माध्यम के पागलपन को खतम करने के लिए जरूरी होगा कि प्रशासन, न्यायपालिका और सार्वजनिक जीवन के अन्य क्षेत्रों में अंग्रेजी के वर्चस्व को खतम करके भारतीय भाषाओं को स्थापित किया जाए। भारतीय भाषाओं का मतलब महज वे भाषाएं नहीं जिन्हें संविधान में मान्यता दी गई है। जिन्हें बोलियां कहा जाता है, वे ही सही मायने में मातृभाषाएं हैं। कम से कम प्रारंभिक शिक्षा और स्थानीय प्रशासन को उनमें चलाने और उन्हें प्रतिष्ठित करने से ही सच्चा लोकतंत्र और स्वराज आ पाएगा।

दिल्ली की बलात्कार की घटना के बाद चली बहस में भी यह बात सामने आई है कि पुलिस और न्याय व्यवस्था में काफी बुनियादी बदलावों की जरूरत है और काफी गड़बड़ियों का स्रोत वे ही हैं। भारत का प्रशासनिक ढांचा मूलतः अंग्रेजी राज की ही विरासत है और काफी केंद्रीकृत, लालफीताशाहीयुक्त, भ्रष्ट व जनता से दूर है। भ्रष्टाचार की विकराल समस्या का एक प्रमुख स्रोत वही है। भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था और सत्ता के ढांचे के क्रांतिकारी विकेंद्रीकरण की जरूरत है। केंद्र और राज्य सरकारों के विषयों व अधिकारों में बहुत कटौती करके उन्हें ग्रामसभाओं, पंचायतों, नगरपालिकाओं और जिला सरकारों को देना होगा। इसके लिए भारतीय संविधान में भी जरूरी बदलाव करने होंगे।

प्रशासनिक और सत्ता का विकेंद्रीकरण असफल हो जाएगा, यदि इसके साथ आर्थिक विकेंद्रीकरण नहीं होगा। विकास के मॉडल और अर्थव्यवस्था के ढांचे में काफी बड़े व क्रांतिकारी बदलावों की जरूरत होगी। कई प्राथमिकताओं, प्रवृत्तियों, दिशाओं को उलटना होगा।

इसी तरह समाज के ढांचों और संस्थाओं में भी बड़े बदलावों की जरूरत है। जाति प्रथा, गलत परंपराओं और मानसिकता को बदले बगैर एक नए भारत की कल्पना नहीं की जा सकती। एक तरफ कट्टरता, कर्मकांड, पाखंड, रूढ़ियों आदि पर प्रहार करने के लिए बड़े सामाजिक सुधार आंदोलनों की जरूरत है, दूसरी तरफ पश्चिमी भोगवाद और उपभोक्ता संस्कृति का भी मुकाबला करने के लिए भारतीय समाज को तैयार करने की जरूरत है।

इसीलिए लोहिया ने 'सप्त क्रांति' और जेपी ने 'संपूर्ण क्रांति' का नारा दिया था। आंदोलन कुछ मांगों या मुद्दों को लेकर हो सकते हैं, लेकिन लक्ष्य 'क्रांति' यानी बड़े, तेज व बहुआयामी बदलावों का ही रखना होगा। ये सारे बदलाव अहिंसक एवं लोकतांत्रिक तरीकों से हो सकते हैं, जरूरत उनके पक्ष में जनमत बनाने की और जनशक्ति को खड़ा करने की है।

### तीसरी बात

बड़े बदलावों की जरूरत और दिशा की स्पष्टता का अहसास होने पर काफी लोग समय देने वाले निकलेंगे (जैसे राधास्वामी या अन्य धार्मिक आंदोलनों के लिए समर्पित लोग मिलते हैं)। एक मुद्दे या स्थानीय समस्या पर फोकस करने से केवल उससे जुड़े लोग ही समय देते हैं। इसलिए साथ-साथ लड़ाई के बड़े मोर्चे को देखने-दिखाने की जरूरत है। जनांदोलनों के नेताओं से शिकायत यही है कि बड़ी वैचारिक-राजनैतिक लड़ाई की तैयारी को उन्होंने पर्याप्त महत्व और वक्त नहीं दिया।

### चौथी बात

आपसे इस विषय में कोई मतभेद नहीं है। कहीं भी, कोई भी साथी हमें मिल सकता है और इसकी संभावना को नकारा नहीं गया है। केवल कहां ज्यादा प्रयास किया जा सकता है, इसकी ओर इशारा किया गया है।

### पांचवी बात

**गांधी इस बात के सबसे बढ़िया उदाहरण थे कि देश प्रेम और मानव प्रेम में विरोध होना जरूरी नहीं है।** मुझे भारत राष्ट्र से प्रेम है और उस पर गर्व है, तो इसका मतलब पाकिस्तान और चीन के लोगों से नफरत नहीं है। जब राष्ट्रप्रेम क्रिकेट मैचों तक सीमित हो जाता है, तब जरूर ऐसा विरोध पैदा होता है। इसी तरह मुझे अपनी स्थानीय भाषा व संस्कृति (हरियाणवी, पंजाबी, भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी, कश्मीरी, तमिल या अन्य कुछ) पर भी फख्र व लगाव हो सकता है तथा भारत राष्ट्र पर भी नाज हो सकता है। जरूरी यह है कि हमारा यह प्रेम या लगाव संकीर्ण एवं कट्टर रूप न ले तथा हमारा राष्ट्र भी उदात्त, बहुलतावादी और विविधताओं को समेटने तथा सम्मान देने वाला हो।

जिले की तरह राष्ट्र मात्र एक प्रशासनिक इकाई नहीं है। इसकी एक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक-राजनैतिक पृष्ठभूमि है। आधुनिक भारत राष्ट्र के पीछे दो चीजें हैं। एक, सदियों से विकसित हुई भारत की एक सांस्कृतिक इकाई और पहचान है।

दो, आजादी के आंदोलन में लंबे समय तक लाखों लोगों ने इसके लिए अपनी कुर्बानी दी है। **साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष में राष्ट्र एक स्वाभाविक इकाई बनता है।** लेकिन यह सही है कि मानव जाति (और मानव जाति ही क्यों, जीव जगत या प्रकृति क्यों नहीं ?) के प्रति प्रेम और बराबरी का अहसास (तथा इसके अभियान) राष्ट्रीयता की भावना के साथ हर वक्त होना चाहिए।

### छठी बात

इस यक्ष प्रश्न का कोई फार्मूला जबाब तो नहीं है। सबको मिलजुल कर इसे खोजना है और आजमाते, करते, सीखते हुए रास्ता निकालना है। मुझे लगता है कि **एक**, मौजूदा संकट के कारणों के बारे में और इसके विकल्प के बारे में वैचारिक सफाई जितनी बढ़ेगी, उतना ही बड़ा परिवर्तनकारी आंदोलन खड़ा करने में मदद मिलेगी। जब वैचारिक धुंध फैली होती है और आगे का रास्ता नहीं दिखाई देता है, तो बहुत

लोग आगे नहीं आते। **दूसरा**, हमारे जैसे लोग अक्सर एक छोटे-से दायरे में ही मिलते-जुड़ते और चर्चा-बहस करते रहते हैं। इस दायरे से बाहर जाकर आम लोगों के साथ संवाद कायम करने की जरूरत है। इसीलिए यात्राओं का महत्व है। **तीसरा**, जहां संघर्ष की तैयारी नहीं है, वहां पर समाज सुधार और रचनात्मक कामों पर फिलहाल जोर दिया जा सकता है। लेकिन सबको नया भारत बनाने के एक बड़े लक्ष्य से जोड़ा जाए तो एक दृष्टि और ताकत बनेगी। **चौथा**, जो हालात आज इतने निराशाजनक लगते हैं, वे भी मौका आने पर तेजी से बदलते हैं। लातीनी अमरीका, ट्यूनीशिया और मिस्त्र के उदाहरण सामने हैं। सवाल यह है कि तब उसे सही दिशा में मोड़ने की हमारी तैयारी कितनी होगी ?

आपने सही कहा है कि लड़ाई व तलाश जारी रहना चाहिए।

## वार्ता यहां से प्राप्त करें

- सोमनाथ त्रिपाठी, अनुसंधान परिसर, संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी – 221002, फोन 09415222940
- विश्वनाथ बागी, पुटकी कोलियरी, पो. कुसुंडा, जिला धनबाद, झारखंड 828116, फोन 09835131638
- लिंगराज, समता भवन, बरगढ़, ओडिशा, 768028, फोन 09437056029
- जे. पी. सिंह, जेपी मेडिकल, बेलथरा रोड, जिला बलिया, उत्तरप्रदेश फोन 09454246891
- अच्युतानंद किशोर नवीन, सत्य साहित्य, कन्हौली, शारदानगर, पो. आर के आश्रम बेला, मुजफ्फरपुर, बिहार, 843116, फोन 09470268745
- नवल किशोर प्रसाद, एडवोकेट, छोटा बरियापुर, वार्ड नं 38, पो. सिविल कोर्ट, थाना छतौनी, मोतीहारी, बिहार 845401, फोन 08271829617
- चंद्र भूषण चौधरी, भारती अस्पताल, कोकर चौक, हजारीबाग रोड, रांची, झारखंड 834001, फोन 09006771916
- रामजनम, सर्वोदय साहित्य भंडार, प्लेटफार्म नं. 4, वाराणसी कैंट स्टेशन, वाराणसी 221002, फोन 08765619982
- अमरेंद्र श्रीवास्तव, पुरानी गुदड़ी, वार्ड नं. 9, थाना-नगर, पो. बेतिया, बिहार 845438, फोन 09031670370
- चंचल मुखर्जी, मुखर्जी बुक डिपो, पांडे हवेली, वाराणसी, फोन 0542-2454257
- शिवजी सिंह, अधिवक्ता, महददीगंज, बलुआ टोला, पो. सासाराम, जिला रोहतास, बिहार 821115, फोन 09431846052
- रमाकांत वर्मा, सेक्टर 3 डी, क्वा नं.589, बोकारो स्टील सिटी, झारखंड 827003
- अल्मोड़ा किताबघर, मित्रभवन, गांधी मार्ग, अल्मोड़ा, उत्तराखंड 263601 फोन 09412092061
- दिनेश शर्मा, डी 68, ए ब्लॉक, खूंटाडीह, सोनानी, जमशेदपुर, झारखंड 831011, फोन 09431703559
- इकबाल अभिमन्यू, 28 पेरियार छात्रावास, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली 110067, फोन 09013183889
- मनोज वर्मा, इहमी कंपाउंड, पो.रामनगर, जिला पश्चिमी चंपारन, बिहार 845106
- राजेंद्र बिंदल, 137डी, पाकेट बी, दिलशाद गार्डन, दिल्ली, 110095 फोन 09266955416
- रोशनाई प्रकाशन, 212 सी. एल/ए., अशोक मित्र रोड, कांचरापाड़ा, उत्तर 24 परगना, प.बंगाल, 743145 फोन 033-25850249

ग्राहक शुल्क भी इनके पास जमा कर सकते हैं।



## चुनाव सुधार की जरूरत

चुनाव प्रक्रिया में सुधार की जरूरत बड़ी शिद्दत से महसूस की जा रही है। देश में पहला आम चुनाव संपन्न हुआ था तब लगा था कि भारत में चुनाव संसदीय लोकतंत्र के विश्व इतिहास का सफलतम प्रयोग है। तब शायद ही किसी ने कल्पना की होगी कि इस सफलतम प्रयोग द्वारा संसद और विधानसभा का निकृष्टतम प्रयोग किया जाएगा। हमारे नेताओं और विचारकों ने जिस सामाजिक न्याय और समान अवसर की कल्पना की थी, आज उसे पूरी तरह नकारा जा रहा है। इस समस्या की जड़ कहीं न कहीं वर्तमान चुनाव प्रणाली में है, जिसमें व्यापक सुधार की जरूरत है।

वर्तमान चुनाव प्रणाली के कारण लोकतंत्र का विकृत स्वरूप देखने को मिल रहा है जिसमें अपराधी लोग चुनाव जीत कर जा रहे हैं। वोट का प्रतिशत बहुमत से काफी कम होता है फिर भी विजेता घोषित किया जाता है। चुनाव में पैसे का भी खेल खूब होता है। चुनाव आयोग द्वारा निर्धारित सीमा से कई-कई गुना ज्यादा पैसे खर्च किए जाते हैं। मतदाताओं को रिझाने के लिए उन्हें प्रलोभन दिए जाते हैं। कभी दो रूपए किलो चावल, कभी टीवी देने, ऋण माफी और बिजली बिल माफी की घोषणा उम्मीदवारों और नेताओं द्वारा की जाती हैं। इन उम्मीदवारों द्वारा शराब बांटने का काम बहुत व्यापक पैमाने पर किया जाता है। मतदाताओं को वोट के ठेकेदारों के माध्यम से खरीदा भी जाता है। चुनाव इतना खर्चीला बना दिया गया कि ईमानदार और प्रतिबद्ध सामाजिक कार्यकर्ता कभी चुनाव लड़ने की कल्पना भी नहीं कर सकता। जो उम्मीदवार चुनाव लड़ता है वह जनता की रहनुमाई करने के लिए नहीं बल्कि चुनाव एक उद्योग है, यह मानकर चुनाव लड़ता है। विजेता घोषित किए जाने के बाद मोटी तनखाह, आवास तथा अन्य भारी भरकम सुविधाओं के साथ जिंदगी भर पेंशन मिलती है। ऊपर की आमदनी का तो कुछ कहना ही नहीं। रूतबा ऐसा कि उनके सामने आलाधिकारी भी बौने। इसलिए कोई भी उम्मीदवार जीतने के लिए जी जान लगा देता है। हालांकि नब्बे के दशक में मुख्य चुनाव आयुक्त टी. एन. शेषन ने इस सब पर अंकुश लगाने के लिए प्रयास किया था, लेकिन वह नाकाफी

था। दलों के अंदर लोकतंत्र तो है ही नहीं।

चुनाव में सुधार के लिए कई समितियां बनीं। 1972 में राव समिति, 1975 में तारकुंडे समिति, 1982 में बोहरा समिति और 1998 में इंद्रजीत गुप्त समिति का गठन किया गया लेकिन इन समितियों की अनुशंसाओं पर सार्थक पहल नहीं हुई।

पिछले लोक सभा में 99.2 प्रतिशत सांसद बहुत ही कम वोट से चुनाव जीते। 60 प्रतिशत सांसदों को 40 प्रतिशत से कम वोट मिले और 30 प्रतिशत सांसद तो केवल 20 प्रतिशत से भी कम वोट से जीते थे।

जिस तरह कुलीनों ने ब्रिटेन में चौदहवीं शताब्दी में 826 सदस्यों वाली लार्ड सभा का गठन कर भारी-भरकम सुख सुविधाओं का प्रावधान अपने लिए कर लिया था उसी तरह भारत गरीब देश में भी राज्यसभा और कुछ राज्यों में विधान परिषद् का गठन किया गया है। इन सदनों के सदस्यों को मोटी तनखाह, सुविधा और रूतबा तो मिलता ही है, ये मंत्री, मुख्यमंत्री और प्रधानमंत्री भी बनते हैं।

चुनाव लोकतांत्रिक प्रक्रिया का एक मात्र हिस्सा है। लोकतंत्र में बहुमत की प्रधानता होती है। जिस चुनाव में मतदाताओं का बहुमत वाला हिस्सा चुनाव प्रक्रिया में अपनी भागीदारी सुनिश्चित नहीं कर पाए या उदासीन रहे तो वह चुनाव अलोकतांत्रिक होता है। कानूनन चुनाव तो हो जाता है लेकिन जो व्यक्ति जीतता है वह स्वस्थ लोकतांत्रिक मर्यादा का न तो ख्याल रखता है और न उसके आचरण में दिखता है। इसलिए मताधिकार का प्रयोग सब मतदाताओं के लिए अनिवार्य किया जाना चाहिए। जीतने वाले उम्मीदवार के लिए क्षेत्र का 51 प्रतिशत मत निश्चित होना चाहिए। प्रधानमंत्री और मुख्यमंत्री क्रमशः लोकसभा और विधानसभा के सदस्यों में से ही होना चाहिए। इन पदों के प्रत्यक्ष चुनाव के बारे में विचार करने की जरूरत है। राज्यसभा और विधान परिषद् जैसे सदन को खतम कर इनके ऊपर हो रहे अरबों रूपए के अनावश्यक खर्च पर रोक लगाने की आवश्यकता है।

कौशल गणेश आजाद,  
ग्राम शेखपुरा, पो. जिंदापुर, जिला  
गया (बिहार) - 824234

## बिहार में शिक्षा का कृष्ण पक्ष

कथित रूप से सुशासित बिहार का नाम पूरी दुनिया में रोशन हो रहा है। मीडिया ने मुख्यमंत्री नीतीश कुमार को सुशासन बाबू का नाम भी दिया है। बहुप्रचारित और बहुप्रशंसित नीतीश कुमार इसके लिए राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय मंचों पर सम्मानित भी हुए हैं।

बिहार के जिस नालंदा अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय से भूतपूर्व राष्ट्रपति ए.पी.जे. अब्दुल कलाम और नोबल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन को जोड़कर नीतीश कुमार ने वाहवाही बटोरी वहीं पिछले दिनों शिक्षा जगत का एक दूसरा विद्वप चेहरा भी लोगों के सामने आया है।

30 नवंबर को छपरा के जयप्रकाश विश्वविद्यालय के पहले दीक्षांत समारोह में शिक्षा व्यवस्था की पोल खुल गई। राज्यपाल और कुलाधिपति देवानंद कुंवर ने कुछ स्वर्णपदक पाने वाले विद्यार्थियों से प्रश्न पूछे। ज्ञात हो, जयप्रकाश विश्वविद्यालय परिसर राहुल सांकृत्यायन नगर के रूप में अधिसूचित है। हिंदी में स्वर्ण पदक पाने वाला छात्र राहुल सांकृत्यायन और संस्कृत में स्वर्ण पदक पाने वाली छात्रा कालिदास के नाम से भी अनभिज्ञ थे। अंग्रेजी का स्वर्ण पदक पाने वाला छात्र यह नहीं बतला पाया कि शेक्सपीयर किस लिए प्रसिद्ध हैं। यह भी खबर आई है कि लिपि देवनागरी की जगह देवनागरिक लिखा जाता है। और तो और डा. राजेंद्र प्रसाद को देश का पहला प्रधानमंत्री बताया जाता है। कॉलेज में पढ़ने वाले छात्र को लिए गए विषय तक की जानकारी नहीं है। कॉलेज का विद्यार्थी सही-सही 'राजनीति विज्ञान' और अंग्रेजी में 'एकजाम' शब्द तक नहीं लिख पाता।

यह उस बिहार की स्थिति है जहां के डॉ. राजेंद्र प्रसाद कभी एंट्रेस इम्तिहान में पूरे बंगाल प्रेसिडेंसी में अव्वल आए थे। उस वक्त बंगाल प्रेसिडेंसी में बिहार, असम, उड़ीसा, बर्मा और आज का बांग्लादेश शामिल था। कक्षा नौ उत्तीर्ण कलम के जादूगर रामवृक्ष बेनीपुरी की किताबें स्नातकोत्तर कक्षाओं में पढ़ाई गईं। महज डिग्रीधारी रामधारी सिंह दिनकर महान राष्ट्रकवि बने और उन्होंने कॉलेज में प्राध्यापिकी का काम किया।

शिक्षा के बाजारीकरण से शिक्षा की गुणवत्ता में तेजी से ह्रास हुआ है। बाजारीकरण ने ज्ञानशून्य

समाज का निर्माण किया है। नोबल विजेता साहित्यकार वी. एस. नायपाल ने भारत के संदर्भ में ही कहा था कि उन्होंने 'अशिक्षित स्नातकों' को देखा है। शिक्षा के व्यवसायीकरण ने कोचिंग संस्कृति को बढ़ाया है। मूल किताबों की जगह कुंजी को तरजीह दी जा रही है। शोध से ज्ञात होता है कि इन संस्थाओं से निकले अभियंता और चिकित्सकों की कार्यकुशलता औसत से भी नीचे है।

स्वामी विवेकानंद ने कहा था कि शिक्षा से चरित्र निर्माण नदारद है। व्यवहार में देखा जाता है कि उच्च शिक्षा प्राप्त अधिकारी/कर्मचारी ही अनैतिक और देशद्रोही कार्यों में लिप्त रहते हैं। गांव का अशिक्षित और गरीब किसान किसी को क्या ठगेंगा?

महान चीनी दार्शनिक कंप्यूशियस हमें ईसा पूर्व ही चेतावनी दे चुके हैं। उन्होंने कहा है, "समाज की गलतियों या खराबियों को सिर्फ समाज की भाषा को ठीक करके ही खतम किया जा सकता है। क्योंकि भाषा अगर गलत हो जाए तो गलत बोला जाएगा, गलत बोला जाएगा तो गलत सुना जाएगा और गलत कह कर जो गलत सुनाया गया है, उस पर जो अमल किया जाएगा वह गलत ही होगा और गलत अमल का परिणाम हमेशा गलत ही हुआ करता है। इसलिए गलत समाज की बुनियाद हमेशा गलत भाषा ही डालती है।"

—नवीन

सत्य साहित्य, कन्हौली,  
शाखा नगर, पो. आर. के. आश्रमबेला,  
मुजफ्फरपुर, बिहार - 843116

पत्रिका नहीं, वैचारिक आंदोलन

**सामयिक वार्ता**

पढ़ें, पढ़ाएं, ग्राहक बनाएं,  
मित्रों को उपहार दें

देश और दुनिया की घटनाओं व हलचलों  
को जानने-समझने और विश्लेषण में  
मददगार एक पत्रिका

## नर्मदा नदी उत्सव की व्यर्थता

पिछले दिनों होशंगाबाद में बड़े जोर-शोर से 'नर्मदा नदी उत्सव' मनाया गया। अभिनेत्रियों का आना, सांस्कृतिक मंडलों की प्रस्तुतियां हुईं।

झांकियों, चिंतन, नाच-गानों में मूल समस्या कि नर्मदा नदी का प्रदूषण कैसे रुके, छोटी नदियों जैसे विभिन्न मुद्दे खो गए।

मैं किसी उत्सव या जयंती का विरोध नहीं कर रहा हूँ, लेकिन जिस उद्देश्य को लेकर यह उत्सव मनाया जा रहा है, वह मुख्य मुद्दा तो एकदम से ही खो गया।

पिछले तीन-चार बार के नदी महोत्सवों से कितनी स्थितियां सुधरी, इस पर किसी ने अध्ययन

नहीं किया, किसी ने यह बात मंच पर नहीं उठाई। क्योंकि अगर यह बात उठी तो आने जाने का खर्च, रहने की खास व्यवस्था कौन करेगा? आशा है कि लोग ऐसे उत्सवों का अर्थ समझेंगे एवं मूल नदी की चिंता करेंगे।

– गोपाल आवटे

बस स्टैंड, सोहागपुर, जिला होशंगाबाद, म.प्र.

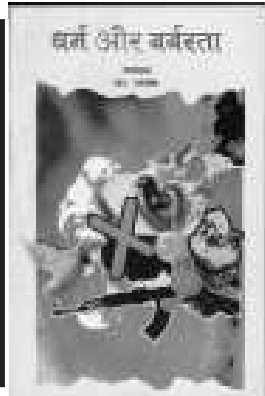
## खूंट गाड़ा है

भौतिकता की आंधी और विलासिता के सागर में एवं भोगवादी माहौल में वार्ता ने जो खूंट गाड़ा है वह स्वागत योग्य ही नहीं, प्रेरणादायक भी है।

– सीताराम सिंह

स्वतंत्रता सेनानी एवं पूर्व सांसद

## आज के ज्वलन्त सामाजिक सरोकारों पर डॉ रणजीत की तीन पठनीय पुस्तकें



धर्म और बर्बरता

पृष्ठ 142, मूल्य 100 रु



साम्प्रदायिकता का जहर

पृष्ठ 244, मूल्य 150 रु



जाति का जंजाल

पृष्ठ 320, मूल्य 200 रु

### तीनों पुस्तकों के संपादक डॉ. रणजीत (मोबा. 9341556643)

**प्रकाशक** :- श्री ज्ञानेंद्र कुमार (मोबा. 9422866223), मानवीय समाज प्रकाशन,  
पांडेय ले-आउट, पुसद-445204, (महाराष्ट्र)

**वितरक** :- श्री दिनेश चंद्र, लोकभारती,  
15-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद - 211001

जन आंदोलनों से जुड़े साथियों और सामयिक वार्ता के पाठकों के लिए रियायती मूल्य।

आखिरी पन्ना

# आदिवासी समाज से सीखें

-अनुराग मोदी

यौन अत्याचार एक सामाजिक बुराई है, इसलिए इससे निपटने के लिए समाज को तो अपने गिरेबां में झांकना ही होगा।

स्त्री-पुरुष रिश्तों का मर्म उनके बीच सहज व्यवहार में है। जब तक महिला-पुरुष के बीच लिंग-भेद से परे एक आम इंसानों वाले व्यवहार कायम नहीं होंगे, तब तक हम हमारे समाज से इस बुराई को कम नहीं कर पाएंगे। मिसाल के लिए आदिवासी समाज को लें। न तो इस समाज के अंदर अमूमन कोई बलात्कार की घटना होती है; न छेड़छाड़; न ही बलात्कार पीड़िता को कलंक माना जाता है; न वो मानसिक प्रताड़ना से गुजरती है; न भ्रूण हत्या; न दहेज हत्या; न आत्महत्या।

असल में, हमारी आधुनिकता अधकचरी है और यह हमारे विचारों और व्यवहार की परिपक्वता से कम और टीवी सीरियल एवं पिक्चरों द्वारा परोसी गई भोंडी सोच से ज्यादा आई है। आज भी, हमारे यहां किशोर अवस्था की स्वाभाविक यौन जरूरतों के प्रति सही जानकारी का अभाव है। शायद, हमारी इस समझ की व्यापक कमी का ही परिणाम है कि राजनेता से लेकर धर्म और सांस्कृतिक संगठनों के मुखिया इस मुद्दे पर महिलाओं को लक्ष्मण रेखा लांघने का दोषी मानने का दुस्साहस कर पाते हैं।

हमने हमारे आधुनिक मूल्यों को लेकर हमेशा पश्चिमी देशों की तरफ देखा। हमें पश्चिमी आंदोलनों से उपजी महिला स्वतंत्रता तो आकर्षित करती रही, लेकिन सदियों से आदिवासी समाज में कायम स्त्री-पुरुष के बीच रिश्तों की सहजता और स्वाभाविक स्वतंत्रता को हमने कभी समझा ही नहीं। आज से 25 वर्ष पहले, जब मैंने आदिवासी इलाकों में अपने कार्यकर्ता जीवन की शुरुआत की, प्रगतिशील होने के बावजूद मुझे आदिवासी समाज में युवा लड़के-लड़कियों से लेकर महिला-पुरुषों के बीच आपसी व्यवहार की सहजता ने काफी आश्चर्यचकित किया।

चाहे गोंड हो या कोरकू, बैगा हो या भील, भिलाला हो या बारेला, युवा लड़के-लड़कियों को अपनी पसंद चुनने का अवसर देने के लिए मड़ई या भगोरिया से लेकर मेले-ठेले जैसे अनेक अवसर होते हैं और अगर फिर भी मां-बाप नहीं माने तो अपनी पसंद के साथ भाग जाना आम बात है। ये भागे हुए युवा-युवती कुछ समय बाद गांव वापस लौट समाज के रीति रिवाज से शादी कर लेते हैं। और कई बार तो इनकी शादी समाज की परंपरा निभाने के लिए कई साल बाद उनके बच्चों की शादी के साथ सिर्फ रस्मअदायगी के लिए होती है। बस्तर में लड़के-लड़कियों को घोटुल में जिस सहजता से अन्य बातों के साथ मिलने-जुलने और समझने का मौका दिया जाता है, उसका उदाहरण तो दुनिया में दूसरा नहीं मिलेगा।

मध्यप्रदेश के बैतूल जिले में गैर-आदिवासियों द्वारा आदिवासी महिलाओं के बलात्कार की अनेक घटनाएं होती रहती हैं। ऐसा नहीं है कि आदिवासी समाज इन बलात्कारों को लेकर आहत या उत्तेजित महसूस नहीं करता। लेकिन फिर भी वे बलात्कार के मुद्दे को स्त्री की इज्जत का मुद्दा नहीं मानते। आदिवासी समाज में अविवाहित मां या बलात्कार पीड़ित मां या उससे जन्मे बच्चे को कभी तिरस्कृत नहीं किया जाता; इन मामलों में महिलाओं की आराम से शादी भी हो जाती है। जिस सहजता से गांव की पंचायत में इस पर चर्चा होती है या महिला जिस तरह बिना डरे पंचायत के सवालों का जवाब देती है, वह हमारे देश की बड़ी से बड़ी अदालत के बंद कमरे की कार्रवाई में भी मुश्किल है। हालांकि, अब बढ़ते टीवी सीरियलों के प्रभावों में आदिवासी समाज में भी बहुत कुछ मध्यमवर्गीय सोच घर करने लगी है। आदिवासी समाज में महिलाओं के लिए सब कुछ ठीक है, ऐसा भी नहीं है। यहां भी अनेक रूप में महिलाओं पर पुरुष का वर्चस्व है, लेकिन फिर भी वे महिला-पुरुष व्यवहार में सहजता को लेकर हमसे कोसों आगे हैं इससे हम सब कुछ सीख सकते हैं।